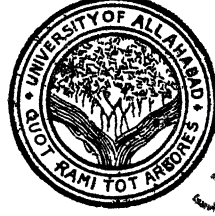


हरिहरानन्द आरण्य कृत भास्वती का आलोचनात्मक अध्ययन
(Hariharanand Aranya Krit Bhaswati ka Alochanatmak Adhyayan)



इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

निर्देशक -

डॉ. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव
प्रोफेसर एव अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्त्री :

श्रीमती शाहीन जाफरी
एम० ए० (संस्कृत)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
इलाहाबाद

1990

:: भूमिका ::

~~~~~

सृष्टि की अनुभवी प्रक्रिया को समझने और उसके रहस्यों को हृदयंग्म करने का प्रयत्न गनव आज से हजारों वर्षों से पूर्व ही करने लगा था । वस्तुतः शोध का यह परिफल ही है जो दार्शनिक ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध होता है ।

प्रारम्भ से ही सृष्टि के रहस्य को समझने की आकांक्षा के कारण सनातनकोत्तर के अध्ययन काल में सैने दर्शन विषय का चयन किया । योग-दर्शन के प्रति स्थाभाविक रूप से विशेष रुचि उत्पन्न हुई एवं उसी विषय में कार्य करने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई । इस दिशा में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मुझे गुरुणां गुरु परमपूज्य डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के प्रति अत्यन्त आभारी रहूँ क्योंकि उनकी सत्प्रेरणार्थ एवं शुभाशीर्वाद से शोध कार्य से सम्बन्ध ग्रन्थियों का कुशलतापूर्वक समाधान हो सका । उनकी सहानुभूति वनेह, अमूल्य मार्गदर्शन से ही शोध कार्य पूर्ण हो सका । आपके सराहनीय योगदान के लिए मैं जीवन-पर्यन्त कृतज्ञ रहूँगी ।

आज्ञानगहनालोकसूर्यस्तोमसि मूर्तये ।

दुःखभयान्ति-सन्तापभ्रान्तये गुरवे नमः ॥

इस शोध-प्रबंध को प्रस्तुत करने में सशक्त गुरुजनों के बहुमूल्य सहयोग के प्रति आभार प्रकट करना मेरा परम-कर्तव्य है ।

मैं राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के प्रति भी आभारी रहूँ जिन्होंने मुझे श्रुदान प्रदान किया । जीवन की आधारशिला रखने वाले परम-पूजनीय,

आध्यात्मिकगति, सुसंस्कृता, स्नेहमयी मता श्रीगती बेहन्निसा जाफरी एवं पिता श्री मिसबाहउददीन जाफरी को बारम्बार ऋण सुम्न अर्पित करती हूँ। बहुविध साहाय्य प्रदान करने वाले अपने पति-परमेश्वर ॐ गोहम्द गरीफ को ग्रन्थ की पूर्ति हेतु अनेकधाः धन्यवाद देती हूँ।

अन्ततः इस शोध-निबन्ध को गुण-दोष परीक्षण हेतु नीरक्षीरविवेकी परीक्षकों के सम्मुख प्रस्तुत करती हूँ।

शोधकर्ता,

निर्देशकः

प्रो. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव,  
अध्यक्ष  
संस्कृत विभाग,  
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,  
इलाहाबाद।

श्रीगती बेहन्निसा जाफरी  
प्रवक्ता,  
शिकली नेशनल स्नातकोत्तर  
महाविद्यालय, आजमगढ़।

--: विधानुक्रमिका :-  
=====

| विषय                                                                                                                             | पृष्ठ सं. |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------|
| भूमिका                                                                                                                           | अ - ब     |
| 1— प्रथम अध्याय<br>हरिहरानन्द आरण्य का जीवन-परिचय                                                                                | 1 - 4     |
| 2— द्वितीय अध्याय<br>भास्वती का स्वल्प                                                                                           | 5 - 8     |
| 3— तृतीय अध्याय<br>भास्वती में योग-सम्बन्धी सिद्धान्त- योग<br>का स्वल्प, चित्तवृत्तियाँ, सम्प्रज्ञात एवं<br>असम्प्रज्ञात समाधि । | 9 - 63    |
| 4— चतुर्थ अध्याय<br>योग में ईश्वर                                                                                                | 64 - 68   |
| 5— पंचम अध्याय<br>योग साधना के अंग तथा अन्य सिद्धान्त                                                                            | 69 - 123  |
| 6— षष्ठ अध्याय<br>पञ्चविध सिद्धियाँ, एवं जात्यान्तर परिणाम                                                                       | 124 - 150 |
| 7— सप्तम अध्याय<br>योगदर्शन में भास्वती का मूल्यार्क                                                                             | 151 - 154 |
| <u>परिशिष्ट:-</u>                                                                                                                |           |
| तहायक ऋषीं की नामसूची                                                                                                            | 155 - 156 |
| संकेतों का विवरण                                                                                                                 | 157       |



प्रथम अध्याय

—

हरिहरानन्द आरण्य का

जीवन-परिचय

...

## प्रथम अध्याय

### जीवन - परिचय

अमोक्ष सांख्ययोगार्थ - प्रथमोऽभिमतमसि ।

श्रीम्ह-हरिहरानन्द स्वामिने यत्ये नमः ॥

योग-सूत्रों पर अर्वाचीन संस्कृत टीकाओं में हरिहरानन्द आरण्यकृत भाष्यवली टीका विस्तृत विश्वसनीय एवं अत्यन्त उपादेय है । इसी कारण आधुनिक काल के योगाचार्यों में आचार्य हरिहरानन्द आरण्य का नाम अग्रगण्य है । भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए ही आचार्य हरिहरानन्द आरण्य ने भी अपनी रचनाओं में अपने जीवन से सम्बन्धित तथ्यों का किंचित भी प्रकटीकरण नहीं किया । परन्तु आचार्य के विषय में जो अल्प उल्लेख आज उपलब्ध हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे हुगली के एक सम्प्रदायी बंगाली परिवार से सम्बन्धित थे । उन्होंने अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण उच्च शिक्षा भी प्राप्त की थी । परन्तु कुछ समय के पत्रचार स्तेछा से ही सम्पूर्ण धन, वैभव एवं सुविधाओं का त्याग कर दिया एवं सत्यान्वेषण के लिए घर से निकल पड़े । सन्यासी धर्म को सहज स्वीकार करके उन्होंने सन्यस्त जीवन के कठोर नियमों का संयमपूर्वक पालन किया । योगमार्ग पर आरुढ़ होकर सकाकी गुहाओं में एकान्तवास करते हुए अनेक वर्ष व्यतीत किए ।

आरण्य स्वामी जी की जीवनी के रूप में कुछ भी कहा निसिद्ध है नितोकी आरण्य नामक कोई सन्यासी उनके मुक थे जिसे उन्होंने सन्यास लिया था निर्जन गुहा आरण्य, आदि में दीर्घ काल तक "सक्यकी यत्-चिन्तात्म त्वत्सर्वपरिषटः" के रूप में रहकर इस विधा का अन्तरंग मनन निदिध्यासन किया और त्रिवेणी तीर्थ में कुछ साल रहकर व्यास भाष्य की विस्तृत व्याख्या बंगला में लिखी । स्वामी जी की पाली भाषा का

भी उत्कृष्ट ज्ञान था जो उनके पालि धर्म पद के संस्कृत श्लोकमय अनुवाद से ज्ञात होता है। इस पद्यानुवाद की प्रशंसा विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी की थी। § द्र. वेददर्शन पत्रिकार नव पर्याय § 1312 ज्येष्ठ संख्या § ।

आचार्य के सन्यासी जीवन का शुभारम्भ बिहार के बड़ाचार पर्वत श्रृंखलाओं से हुआ। इन पर्वत श्रेणियों के ऊपर महाराज अशोक के धर्मोपदेश अंकित हैं। शहरी जीवन से ये इतने दूर हैं कि मानव समुदाय सरलता से इन पर्वत श्रृंखलाओं तक पहुँच नहीं सकता है।

तत्पश्चात् आचार्य हरिहरानन्द आरण्य ने कुछ वर्षों तक कंगाल में गंगा नदी के किनारे तक छोटी-सी कुटिया बनाकर निवास किया। अपनी योगसाधना में क्लिष्ट भी व्यवधान न डालते हुए हिमालय में हरिदाट, अधिका और कुसांग जादि स्थानों पर निवास करते हुए व्यतीत किए।

जीवन के अंतिमंश स्वामी जी ने बिहार के अन्तर्गत मूसुर नगर में बित्ताया। यहाँ नगर के बाहर उन्होंने एक कृत्रिम गुहा का निर्माण कराकर उसमें आजीवन रहने के लिए प्रविष्ट हुए § 14-5-1926 ई. में § फिर देहत्याग पर्यन्त उस गुहा में ही अवलूट रहे। उनके देहत्याग का सम्य 5 वैशाख 1354 वैश्वीय संवत् है। ये लगभग 78 वर्ष तक जीवित रहे। इस अवधि में आचार्य ने अपने को सार्वारिक जीवन से पूर्णतया विरक्त कर लिया और पूर्ण सकान्त का पालन किया। यहाँ तक कि अपने शिष्यों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए भी वे एक छिड़की का प्रयोग करते थे। एक विद्यालय कक्ष में उनके शिष्य बैठे रहते-थे और आचार्य स्वयं एक छिड़की से उन्हें दर्शन देकर उनकी दार्शनिक समस्याओं का समाधान करते थे।

एक सन्यासी के रूप में जीवन यापन करते हुए आचार्य ने अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन ग्रन्थों की कुल संख्या लगभग सात या आठ है।

उन सब में आचार्य का "योगदर्शन" नामक ग्रन्थ सर्वोत्तम है। परम्पराधाना एवं स्वतन्त्रता के आधार पर रचित उनके ग्रन्थों में से अधिकांश संस्कृत अथवा उनकी मातृभाषा बंगला में है। प्रारम्भ में तो उनके शिष्यों ने आचार्य के ग्रन्थों का व्याख्यायिक रूप से उपयोग नहीं किया और ये ग्रन्थ प्रकाशित करवा कर ज्ञानार्जन के लिए परस्पर ही बाँट लिये। तत्पश्चात् अन्य भारतीय दार्शनिक भी आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के मतां को मान्यता देने हुए स्वीकार करने लगे। अब पश्चात्त्य दार्शनिकों ने आचार्य की दार्शनिक प्रतिभा को पहचाना तो वे भी अपनी दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिए आचार्य के समीप आने लगे। इसी अवधि में पश्चात्त्य दार्शनिकों ने आचार्य से उनके "योगदर्शन" का अंग्रेजी में भी अनुवाद करने की प्रार्थना की। इस प्रार्थना से आचार्य कुछ दुविधा में पड़ गये क्योंकि वे स्वयं को इस प्रकार के सांसारिक जीवन से बहुत पहले ही विमुक्त कर चुके थे। एक सत्यात्मी के लिए अनुवाद आदि कार्य असंभवता भी था। तथापि आचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ "योगदर्शन" की कलकत्ता विश्वविद्यालय ने बंगला में प्रकाशित किया। योगदर्शन में यह एक अमूल्य ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ की उपादेयता से प्रेरित होकर बंगला भाषा से अनभिन्न लोगों के लिए इसका हिन्दी अनुवाद का लन्डन में लन्दन विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ। हिन्दी में इस ग्रन्थ के सफल अनुवाद को देखकर आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के मन में इसके अंग्रेजी अनुवाद को करवाने का विचार भी आया। अपने जीवन के अंतिम काल में आचार्य ने अपने भारतीय एवं विदेशी विद्वान शिष्यों से "योगदर्शन" का अंग्रेजी अनुवाद करने का अनुरोध किया। परन्तु उनके जीवनकाल में उनकी यह इच्छा दुर्भाग्यवश पूर्ण न हो सकी।

परन्तु उनके देहावसान के कुछ समय बाद मसूर स्थित कपिल मठ के एक शिष्य श्री पी. एम. मुखर्जी ने इस बंगला ग्रन्थ को अनूदित करके



आचार्य की अंतिम इच्छा को पूर्ण किया। योगदर्शन में अस्था रखने वाले अंग्रेजी प्रेमियों के लिए यह एक अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है।

आचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों में अत्य मुख्य "सरल सांख्ययोग", "सांख्यसालोक", एवं "भास्वती" है। "भास्वती" योगभाष्य पर लिखा गया एक टीका ग्रन्थ है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज के द्वारा प्रकाशित योगभाष्य की चार टीकाओं में से एक यह भी है। इसमें सांख्य और योग के अनेक गूढ़ रहस्यों का सुन्दर रीति से प्रकाशन किया गया है। भास्वती की सरल प्रतिपादन शैली से महान विद्वान महाश्रीपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज जी भी अत्यन्त प्रभावित हैं। सन् 1936 में कविराज ने आचार्य के विषय में जो शब्द कहे थे उनसे आचार्य की सांख्य योगदर्शन में देने एवं उनकी महानता का आभास पाया जा सकता है।

.....

## द्वितीय अध्याय

-x-

भार्यती का रूप

...

## तृतीय अध्याय

### भास्वती का स्वल्प

भेदीद्वयान्तः करपाच्छरण्यं कृमाप्रतिष्ठाकृतसांभ्यमूर्तिह ।  
तथा प्रभातं मुदिताप्रतिष्ठं भाव्यकृच्छासुमर्नि नमसि ॥

हिरण्यगर्भेड्य परमैः कल्पित्य संभाभ्यः

भास्वती ग्रन्थकार आचार्यचरण स्वामी हरिहरानन्द अरण्य के दीर्घकालीन तपाःसमूत मनन निर्वह्यासन की फलभूता और योगविद्या के क्षेत्र में युगान्त-कारी है। आचार्य से संबंधित यह टीका योगदर्शन का स्वल्प पाठक के समक्ष उपस्थित करती है। इसमें योगस्वल्प सम्बन्धी प्रचलित भ्रान्त दृष्टियों का निराकरण, आचार्य की सुखम दृष्टि और विश्व की सरलता से स्पष्ट करने की उत्कृष्ट प्रतिभा यत्न-तन् दृष्टिकोचर होती है।

भास्वती के प्रारम्भ में भास्वकर व्यास की कृषि आराधना एवं वंदना की गयी है। प्रारंभिक श्लोकों से आचार्य की भास्वकर के प्रति अगाध श्रद्धा के दर्शन हमें होते हैं। तब ही आचार्य ने तृतीय श्लोक में यह उल्लेख भी कर दिया है कि भास्वत की रचना भास्व का बोध सरलता से प्राप्त करने के लिए ही की गयी है। चतुर्थ श्लोक में भास्वती का वर्णन करते हुए आचार्य इसे उपोद्घात, प्रधान, संक्षिप्त, प्रदों का बोध कराने वाली, शंका और विकल्पों से हानि तथा योगियों को प्रसन्न करने वाली इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं। इसी संदर्भ में आचार्य

हिरण्यगर्भ को योग का आदिम वक्ता स्वीकार करके परिग्रही कपिल ने उसका अर्थ स्थापित करते हैं। इसी प्रकार आचार्य ने सूत्रकार पतंजलि को भी परम-कारुणिक भगवान् कहकर उनके प्रति अपना आदरभाव एवं आस्था प्रकट की है।

योगसूत्रों एवं योगभाष्य के आधार पर भास्वती भी चार पादों में विभक्त है। समाधिपाद, साधनपाद, निष्कृतिपाद एवं कैवल्यपाद— ये चार हैं। इन चारों पादों में आरण्य के योग सम्बन्धी समस्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त किंतु सारगर्भित संकलन हुआ है। योगशास्त्रिक के लक्ष्य विस्तार-पूर्ण टीका न होने पर भी लघु क्लेश की भास्वती आचार्य के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में पूर्ण सफल एवं समर्थ है। आचार्य ने सर्वत्र अनावश्यक विस्तार के लोभ का संवरण करके भाषा शैली के आदर्श की स्थापना की है।

ग्रन्थ के प्रारंभ में ही आचार्य ने सांख्य और योग के अर्थ का उद्घोष किया है। आचार्य का पूर्ण विश्वास है कि सांख्य और योग दोनों के ही प्रवर्तक भगवान् कपिल हैं। सांख्य में 25 तत्त्वों का सम्यक् चिन्तन है एवं योग में उन तत्त्वों को प्राप्त करने के उपायों का आकलन किया गया है। अतः तैत्तिरीयक रूप से दोनों दर्शन एक ही हैं एवं एक दूसरे के पूरक हैं, ऐसा आचार्य का मत है।

भास्वती में योगभाष्य को सरल बनाने के लिए जहाँ पर आवश्यक प्रतीत हो, वहाँ पर शब्दों की व्युत्पत्ति की प्रदर्शन पूर्वक व्याख्या

---

1- भाष्यता कपिलेनैव प्रवर्तितः सांख्ययोगः, तत्र सांख्ये पंचविंशति तत्त्वानि सम्यक् विवृताणि, योगे च तत्त्वानामुपलक्ष्युपायौ विवृतः भा. पृ. 1.

की गयी है<sup>1</sup>। इसके पीछे पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना न होकर विध्य को सरलता से प्रतिपादित करने का शुद्ध हेतु ही आचार्य को था। भास्वती पर वाचस्पति मिश्र की तत्त्वशास्त्री का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र की विद्वता से अत्यय प्रभावित थे। ओक शक्तियों के वाचस्पति मिश्र की पाण्डित्यपूर्ण ध्याख्या को आचार्य ने यौगिक दृष्टि के द्वारा सरल करके पाठक के समुख प्रस्तुत किया है। विज्ञानभिक्षु की खण्डन मण्डल शैली का सर्वथा अभाव है। प्रायशः "नु" और "अर्थ" आदि के द्वारा शंकाओं का उत्थापन एवं निष्कारण करने का प्रयास नहीं किया गया है। भास्वती के प्रारम्भ में ही आचार्य ने भास्वती के स्वल्प का उल्लेख करते हुए कहा है कि यह ग्रन्थ शंका और क्लेशपूर्ण से रहित है एवं आचार्य का यह दावा पूर्ण सत्य भी है।

भास्वती की संभवतः सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें आचार्य की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के दर्शन हमें यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ पर भी वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु में मतविभय है वहाँ पर आचार्य ने अपनी सद्भुत मीमांसा से मध्य मार्ग का शोध करके दोनों में समन्वय स्थापित करने का सतुत्य प्रयास किया है।

भास्वती के स्वल्प के सम्बन्ध में यह कहना भी असमीचीन न होगा कि जहाँ पर भाष्य अत्यन्त सरल है एवं उसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है, उन स्थलों पर आचार्य ने अपनी लेखनी चलाने की आवश्यकता नहीं

1- उदाहरणार्थ— "योगः सम द्यः न च संयोगायथंकोऽयं योगः

भुज- समधौ इति शब्दिकः । भा. पृ. 6.

समझी है । ऐसे अनेक स्थलों पर "इति सुगण्ड" अथवा "सुगण्ड भाष्यम्" अथवा "स्पष्टं भाष्यम्" कहकर आचार्य आगे बढ़ गये हैं । कहीं-कहीं पर किसी सूत्र के पूरे भाष्य को भी व्याख्या नहीं की है<sup>2</sup>।

---

३-

१- यो. सू. १-२१, १-२२

२- यो. सू. ३-२०, ३-२५

## तृतीय अध्याय

भास्करती में योग सम्बन्धी सिद्धान्त, योग का स्वरूप  
चित्तवृत्तियाँ, सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि

---x---

## तृतीय अध्याय

### भास्वती में योग का स्वल्प

योग शब्द टिवा टिगणीय युञ्ज धातु में "व्यंज" प्रत्यय लगाने से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ समधि है । योगः समाधिः स च सार्वभौगः चिंतय धर्मः । योगसूत्र 1/1 पर भाष्य अर्थात् चित्त के सम्यक् आधान ऽसमाधान ऽ के लिए ही योग शब्द का प्रयोग किया जाता है । चित्त की समाधि अथवा समाधान एक सार्वभौग धर्म है अर्थात् सभी भूमियों में रहता है<sup>1</sup> । संस्कार के कारण चित्त प्रायः जिन अवस्थाओं में रहता है उसे चित्त की भूमियाँ कहते हैं । ये मुख्यतः पांच हैं — क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध<sup>2</sup> ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि सार्वभौग्योद्धारण प्रयुक्त योग शब्द युञ्ज-समघो धातु से ही "धञ्" प्रत्यय लगकर बना हुआ है । चित्तवृत्तिनिरोध रूपी समाधि के अर्थ में ही पातञ्जल "योग" का ग्रहण करना चाहिये । यह योग शब्द अन्य अर्थों में प्रयुक्त नहीं माना जा सकता है क्योंकि पातञ्जल योग संयोग स्व न टोकर वियोगफलक ही है, अर्थात् देने वाला होता है । जैसा कि गीता में कहा गया है — दःख संयोग वियोगं योग संलितम् 6/23.

योग का अर्थ समाधि या चित्तवृत्ति का निरोध अर्थात् है किन्तु प्रत्येक समाधि या प्रत्येक प्रकार के चित्तवृत्ति के निरोध को योग नहीं कहा जा सकता फिर योग किस समाधि को कहेंगे?

1. योगः समाधिः स च सार्वभौगचिन्तय धर्मः । यो. भा. सू. 1-1

क्षिप्ता, मूढा च विक्षिप्ता एकाग्रा च निरुद्धिका ।

2. सत्त्वेषु सहजास्वभाः फलोभा विचलत्तमम्यः । योगकारिका -- 9.



यहाँ पर यह आशा का होती है कि चित्त की समधि ही योग है और यह समधि चित्त कासावभौम धर्मि अर्थात् चित्त की सभी भूमियों में रहती है तो क्या प्रत्येक मनुष्य प्रतिफल योगसाधन में लगा रहता है? अथ योगानुशासनम् योग सू. 1/1, योगविचत द्युति निरोधक यो. सू. 1/2 तदा द्रष्टुः स्वल्पेभ्यश्च ध्यानम् यो. सू. 1/3, सूत्रों में मिल जाता है। इसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि पांच में से अंतिम दो अर्थात् निरुद्ध और सकाग्र ही योगसाधन में उपयोगी हैं। इन दो चित्त-भूमियों की समधिही केवल्य प्रदान करने में उपयोगी है। लोभ और मोह के वश में आकर कभी-कभी क्षिप्त और मूढ़ भूमियों में भी चित्त का समधान हो जाता है परन्तु वह योगसाधन के लिए किंचित भी अपादेय नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य हरिहरानन्द आरण्य महाभारत के एक पात्र ज्येष्ठ का उदाहरण देते हैं। महाभारत में वर्णन है कि पाण्डवों से पराजय के पश्चात् प्रबल रोष के कारण ज्येष्ठका चित्त शिव में समाहित हो गया था। परन्तु क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों में चित्त का समधान विधियों के कारण गौण हो जाता है। इस कारण से इन तीनों भूमियों में हुई चित्त की समधि योगमार्ग में उपयोगी नहीं है।

शेष दो चित्तभूमियों अर्थात् सकाग्र और निरुद्ध अवस्थाओं में हुई चित्त की समधि क्रमात् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग का हेतु होती है। जब चित्त का अग्र अर्थात् अवलम्बन एक ही होता है तो उसे सकाग्र भूमि कहते हैं। आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार अभीष्ट विषय में तदैव स्थित रहने वाली चित्त की अवस्था को सकाग्रभूमि कहते हैं। अभीष्ट विषय के सम्बन्ध में आचार्य का कथन है कि पदार्थ के सत्य ज्ञान को चित्त में अध्यारण करना ही प्रत्येक प्राणी को अभीष्ट होता है। सकाग्रभूमि में चित्त की समधि होने पर ही सम्प्रज्ञात योग होता है। सकाग्र भूमि में स्थित चित्त पारमार्थिक अर्थात् चरम सत्य का ज्ञान करता है।

चित्त के एकाग्र होने पर पदार्थ का सम्यक् ज्ञान होता है । इसके परिणाम-स्वरूप अज्ञानादि ज्ञेया क्षीण हो जाते हैं । एतद्वशात् कोशात्मक कर्मों से क्लृप्त्य दूर हो जाता है और इस कारण कर्म के बन्धन भी मिटि जाते हैं । सम्प्रज्ञात समधि का अंतिम कार्य चित्त को निरोध की ओर अभिमुख करना है । सभी वृत्तियों का राहित्य भी निरोध है ।

आरण्य के अनुसार एकाग्र भूमि में चित्त का सत्पदार्थविषयक जो ज्ञान है, वही सम्प्रज्ञान कहलाता है । इस प्रकार के सम्प्रज्ञान से युक्त योग ही सम्प्रज्ञात योग कहलगा है । ऐसी स्थिति में गृहीता, ग्राह्य और ग्रहण एकाकार होकर प्रतिभासित होते हैं<sup>1</sup> । द्विविध योग में से एक उपर्युक्त सम्प्रज्ञात योग है । दूसरा प्रकार असम्प्रज्ञात का है । असम्प्रज्ञात योग का लक्षण जरेते हुए आचार्य कहते हैं कि सम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होने पर उस सम्यक् ज्ञान का भी निरोध कर लिया जाता है । फलस्वरूप जब सभी वृत्तियों का अर्थात् सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध अथवा राहित्य हो जाता है तब वह असम्प्रज्ञात योग की अवस्था होती है<sup>2</sup> ।

योग शब्द का विशद विवेचन करते हुए योगसूत्रकार परमहंसि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इस सूत्र की रचना करते हैं । "योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः" इस सूत्र में सर्व शब्द का उल्लेख न करने से दोनों प्रकार के अर्थात् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग इसके अन्तर्गत आ जाते हैं । कारण यह है कि

1- एकाग्रभूमिक्रयञ्च चैतसत्त्वयिपयिपी प्रज्ञा सम्प्रज्ञानम्, तदा गृहीत्ग्रहणमग्राह्येषु, तत्त्वयत्तंजना भवति, तादृश सम्प्रज्ञानवान् योगःसम्प्रज्ञात इत्यर्थःभास्वती, पृ. 5

2- सम्प्रज्ञातसियो सम्प्रज्ञानस्या मि निरोधे यः त्ववृत्तिनिरोधः स सम्प्रज्ञातो योग इति । भास्वती पृ. 10

सर्व शब्द के प्रयोग करने से इस सूत्र में अथापि दोष आ जाता है । अतः इस स्थिति में सम्प्रज्ञात योग योग की कोटि में न आयाता क्योंकि सम्प्रज्ञात योग में सब वृत्तियों का निरोध नहीं होता है । इसमें केवल राजस और तामस वृत्तियों का ही निरोध होता है । तत्त्वज्ञानरूपी और प्रकाशशील स्वभाव वाली सात्त्विक वृत्ति सम्प्रज्ञात योग में प्रकृत्येण उदीयमान रहती है । अतः "सर्व" शब्द का प्रयोग न करना यहां विशेषाहत्व रखना है ।

चित्तवृत्तियों का निरोध ही सर्वश्रेष्ठ मानसिक बल है इसीलिए कहा भी गया है "नास्ति योग सम बद्ध" । चित्तवृत्तियों के निरोध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि चित्त, वृत्ति एवं निरोध सभी का पृथक्-पृथक् विवेचन कर लिया जाए । विज्ञानभिक्षु के अनुसार चित्त शब्द का अर्थ अन्तःकरण सामान्य है<sup>1</sup> । आचार्य पाचस्पति मित्र भी चित्त का अर्थ बुद्धि अथवा अन्तःकरण ही स्वीकार करते हैं<sup>2</sup> । अन्तःकरण के मुख्यतः तीन भेद सौख्ययोग में स्वीकृत हैं, — मन, बुद्धि और अहंकार । इन तीनों का सम्मिलित नाम अन्तःकरण है और अन्तःकरण का ही प्रयोग चित्त के रूप में किया जाता है । अतः यह स्पष्ट है कि चित्त का सामान्य अर्थ अन्तःकरण ही है ।

वृत्ति का अर्थ है चित्त की स्थिति । अर्थात् चित्त जिस जिस स्थिति में रहता है उसको चित्त की वृत्ति कहा जाता है । "वर्तमानयोस्त्वृत्तिः" चित्त प्रतिकरण किसी न किसी स्थिति में परिणत होता रहता है । अतः

1- चित्तगन्तःकरण सामान्यम् । यौ. वा. दृ. 12.

2- चित्तज्ञानेन अन्तःकरणं बुद्धिमुत्पद्यति । तांड्य सू. पु. 7

नहि कृत्यनित्या चित्तशक्तिरूपं परिपाप्मी ज्ञानधर्मा भवितुमिति त. वै. पु. 7

चित्त की वृत्तियाँ भी असंख्य होती हैं। परन्तु वृत्तियों के लिए त्रिविध गुणों के आधार पर उनके भी तीन भेद किये गये हैं जो कि क्रमशः सात्त्विक वृत्ति, राजस वृत्ति एवं तामस वृत्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं। "चित्त" एवं "वृत्ति" के अर्थ का स्पष्टीकरण हो जाने के पश्चात् निरोध शब्द का विचार करना चाहिए। "निरोध" का अर्थ वृत्तियों का सर्वथा अभाव नहीं है वरन् वृत्तियों का चित्त में लीन हो जाना ही निरोध है। निरोधावस्था में वृत्तियाँ संस्कारमय के रूप में चित्त में विद्यमान रहती हैं और केवल लाभ होने पर सभी संस्कारों का क्लिय हो जाता है तथा चित्त अपने कारण प्रधान में विलीन हो जाता है और पुनः उसका आवर्तन नहीं होता है। चित्त का अपने कारण प्रधान में विलय ही योग दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है।

सम्प्रज्ञात समवधि में सत्त्वगुण का प्रकर्ष होता है। असम्प्रज्ञात योग के पूर्व सम्प्रज्ञात योग की सिद्धि परमावश्यक है। सात्त्विक गुण के प्रकर्ष के कारण विवेकव्याप्ति अर्थात् पुरुष और प्रकृति का भेदज्ञान होता है। चित्त-शक्ति अर्थात् पुरुष अपरिणामी, शुद्ध, अनन्त, अप्रसिंक्रुण अर्थात् निष्क्रिय एवं निर्लिप्त तथा दर्शित विषय अर्थात् स्वप्रकाशशक्ति है। तात्पर्य यह है कि सभी विषय बुद्धि के द्वारा इसके निकट दर्शित होते रहते हैं। परन्तु विवेकव्याप्ति इसके ठीक विपरीत है। यत्र सत्त्वगुणात्मक है और पुरुष भ्रिगुण। अतः इस विवेकव्याप्ति के दोषों को देखते हुए चित्त ज्ञाने भी विरक्त हो जाता है। इस अवस्था में चित्त संस्कारमय अवस्था में स्थित हो जाता है अर्थात् सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है।

जब विवेकव्याप्ति में समयक ज्ञान का लाभ करके तथा उससे भी विरक्त होकर उसका भी निरोध करके जब ज्ञानशून्य-प्रत्ययहीना निरोधावस्था की प्राप्ति होती है तब वही असम्प्रज्ञात योग है। इसमें ध्येयविषय बीज का

सर्वथा अभाव होने के कारण निरोध को निबीज समाधि भी कहते हैं ।

---

1- त्प्रज्ञानं लब्ध्वा तदपि निश्चय यदा प्रत्ययहीना निरुद्धावस्था-  
अधिगम्यते तदा सोऽसम्प्रोक्तोऽयौ । इति, ध्येयविश्वस्मृत्य बीजस्याभावात्  
निरोधः समाधिनिबीज इत्युच्यते । भा. पू. 17.

जेन्नासहितः कर्माशयो जात्यायुर्भोगा बीजं तस्मात्निर्गत इति निबीजः  
अस्यैः यो गिज-प्रसिद्धागन्वर्षो संज्ञामादर्शयति--"न त्" इति ।  
उपसंहरति--"द्वि विधः स योगश्चित्तसृष्टिनिरोधहृती" ति । भा. पू. 17

...

## चित्त की भूमियाँ

योग का अर्थ है समाधि । और समाधि चित्त का सार्वभौम धर्म है । सार्वभौम का अर्थ है सभी भूमियों में रहने वाला । चित्त की स्वाभाविक अवस्थाओं को ही चित्त की भूमियाँ कहते हैं । आचार्य के मतानुसार संस्कारवशात् जिस अवस्था में चित्त प्रायः स्थित रहता है, वही चित्त की भूमि कहलाती है<sup>1</sup>। ये चित्तभूमियाँ क्षिप्त, मूढ़, सकाग्र एवं निरुद्ध इन चारों से पाँच प्रकार की हैं<sup>2</sup>। इन पाँच भूमियों में से अंतिम दो अर्थात् सकाग्र एवं निरुद्ध भूमियों में किया गया वृत्तिनिरोध योगमार्ग में जाता है अर्थात् योगसिद्धि में समर्थ होता है । अन्य तीन भूमियों में तिर्यक के कारण वृत्तिनिरोध हो ही नहीं पाता है ।

रजोगुण के आधिपत्य के कारण जब चित्त अत्यन्त अस्थिर होकर एक विषय से दूसरे विषय की ओर भागता है, तब वह क्षिप्त भूमि है । इस भूमि में प्रथम तो चित्त में तत्त्वज्ञान को जानने और सम्झने की इच्छा ही नहीं होती और यदि जिज्ञासा हुई भी तो बौद्धिक नहीं होती है<sup>3</sup>।

चित्त की दूसरी भूमि अर्थात् मूढ़ भूमि में चित्त इन्द्रियराग अथवा आसक्ति के कारण किसी विषय में मोहित हो जाता है<sup>4</sup>। इस कारण वह ध्यान एवं गन्त के योग्य नहीं रह पाता है । विज्ञान भिद्यु ने मूढ़भूमि

1- चित्तभूमयः चित्तरथ सहजा अवस्थाः, संस्कारवशात् यस्याग्यात्थायां चित्तं प्रायशः सन्निवृत्ते सैव चित्तभूमिः । भा०पृ० ४.

2- क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तस्य सकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः यो. भा. सू. 1-1। रक्षा विष्येऽप्येव वृत्तिभक्त । यो०वा० ४

3- तत्र यदा संस्कारप्रत्ययानिकं चित्तं तत्त्वज्ञानविकीर्णमहीनं सर्वथा स्थिरं प्रमत्ति तदाऽत्रय क्षिप्ताभूमिः भा.पृ० ४.

4- तादृशश्च पि च प्रकृतागादिमोहवशात् चित्तरथ या मूढावस्था ता मूढा भूमिः भा.पृ० ४.

को मूर्धादि व्यापारवाच स्थिति कहा है जो कि अधिक युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि भाव्यकार को यह अर्थ अभीष्ट नहीं है एवं संदर्भ के अनुसार भी चित्त की साधारण अवस्थाओं का वर्णन किया जा रहा है। मूर्धा सदृश साधारण स्थिति का नहीं। अतः आचार्य आरण्य का यह मत कि विषय विषय पर मुग्ध हो जाने के कारण चित्त में अन्य तत्त्व-चिंतन सम्बन्धी विचार आ ही नहीं पाते, अधिक समीचीन प्रतीत होता है। व्याख्या रिक ज्ञात में भी हम देखते हैं कि कुछ लोग स्त्री अथवा सगयत्ति पर प्रबल मोह के वशीभूत होकर समाहित अथवा ध्यानयुक्त हो जाते हैं। यही मूर्ध् चित्त का समाहित होने का उदाहरण है। यह भूमि क्षिप्त भूमि के पश्चात् इसलिये रखी गयी है क्योंकि इसमें ऐन्द्रिक एवं ऐहिक विषय पर ही सही, चित्त मोहवशा समाहित हो जाता है, परन्तु क्षिप्त भूमि में तो विषयों एवं राज्ञाधिष्य के कारण चित्त समाहित ही नहीं हो पाता है। चित्त की तीसरी भूमि विक्षिप्त भूमि है। यह क्षिप्त भूमि से अधिक अच्छी है। सत्त्वगुण के प्राबल्य के कारण चित्त कभी-कभी स्थिर हो जाता है परन्तु बीच में ही राज्ञस गुणों के उदय से चंचल हो जाता है। इस भूमि में चित्त को न्य वह स्थिर होता है तब सत्त्वज्ञान के प्रति जिज्ञासा होती है एवं समझने की सामर्थ्य भी होती है<sup>2</sup>।

विक्षिप्तभूमि में भी समाधि लाभ होता है परन्तु वह नितान्त अस्थायी होता है।

1- क्षिप्तादि शिष्टं विक्षिप्तं, सत्त्वाधिष्येन समाद द पि चिन्तं रजो मात्र्याहन्तरा विषयान्तरं चित्तमत् यो. बा. पृ. 8

2- क्षिप्तादि शिष्टं विक्षिप्तभूमिकंचित्तम्, तत्र कादा चित्तं चित्त समाधानं, समाधान-विकीर्णं च सत्त्वज्ञानसमाधानं दृश्यते। भा. प. 8

"सकाग्र" यह चित्त की भूमि है। अभीष्ट विषय में स्तैव लगी रहने वाली चित्त की अवस्था ही सकाग्र भूमि कहलाती है<sup>1</sup>। इस भूमि में सात्त्विक वृत्ति का प्राधान्य रहता है। राज्य एवं तामस वृत्तियों का सर्वथा निरोध होने के कारण चित्त को विक्षेप एवं मोह नहीं होता है। फलस्वरूप चित्त एक ही अभीष्ट विषय में ध्यानमग्न रहता है। एक ही विषय की ओर उग्र अथवा ऊँमुख वृत्ति वाली भूमि ही सकाग्र है। सकाग्र चित्त को ओर अधिक सुस्पष्ट करने के लिए आचार्य कहते हैं कि एक वृत्ति बने के बाद दूसरी वृत्ति भी ठीक वैसी ही बने और उसी प्रकार की समान वृत्तियों का क्रम निरन्तर चलता रहे तो वह सकाग्र चित्त कहलाता है।

इसी सकाग्र भूमि में सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है। योगमार्ग पर आरुढ़ होने के लिए यह प्रथम आवश्यक तोषान है अतएव इस भूमि का अपना विशेष महत्त्व है। इस भूमि में सात्त्विक वृत्ति पूर्णरूपेण उद्बुद्ध रहती है। इस कारण पदार्थ का यथार्थ ज्ञान योगियों को होता रहता है। यथार्थज्ञान से अधिा का नाश होता है। फलस्वरूप क्लेश जो कि अधिागुलक है, क्षीण हो जाते हैं। कर्मबंधन मिथिल हो जाते हैं<sup>2</sup>। सकाग्रभूमिक सम्प्रज्ञात समाधि का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह असम्प्रज्ञात समाधि को अभिमुख अर्थात् समीप लाती है।

चित्त की सर्वोच्च स्थिति अथवा पांचवीं भूमि "निरुद्ध"<sup>3</sup> है। सकाग्रभूमि में केवल राज्य एवं तामस वृत्तियाँ ही निरुद्ध होती हैं किन्तु निरुद्ध भूमि में सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है अर्थात् दोनों वृत्तियों का पूर्ण निरोध ही निरुद्ध भूमि है<sup>4</sup>।

- 
- 1- अभीष्टविषये स्तैव स्थितिर्बला चित्तावस्था सकाग्रभूमिः भा. पू. 8
  - 2- ज्ञानाग्निः सर्वकर्मणि मरुत्मात्कुलो तथा । श्रीष्ट भीष्मगीता- 4/36
  - 3- निरुद्धं च चिरञ्जंकलवृत्तिकं संस्कार मात्रोपमित्येधं. यो. व. पू. 8
  - 4- सर्ववृत्तिनिरोधमाया चित्तावस्था निरुद्धभूमिः भा. पू. 8



## चित्तवृत्तियाँ

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः योगसूत्र 2 चित्तस्यवृत्त्यः इति चित्त वृत्तयः तासां निरोधः इति ल्योक्तः योग चित्तवृत्तियों का निरोध है । अतः योग शब्द जो भलीभाँति समझे के लिए चित्त की इन वृत्तियों से पूर्ण परिचय होना आवश्यक है । चित्त जिस जिस स्थिति या रूप में रहता है वे स्थितियाँ चित्त की वृत्तियाँ हैं । वर्ततेऽन्येति वृत्ति सुह + चित्त भेद । चित्त अनेक रूपों में परिवर्तित होता रहता है । इसलिए चित्त की अनेक वृत्तियाँ होती हैं लेकिन सत्त्वादिगुणों के प्राधान्य के अनुसार उनका विभाजन तीन मुख्य श्रेणियों में किया जा सकता है । आगे चलकर इन वृत्तियों का विभाजन इन के लक्ष्य के आधार पर पाँच प्रकारों में किया जाता है । आँखा जसिम्तादि क्षेत्रों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ क्लिष्ट होती हैं । अज्ञानजन्य ये वृत्तियाँ चित्त में क्लेशयुक्त संस्कारों को जन्म देती हैं । अतः इसी कारण इन्हें क्लिष्ट वृत्तियाँ कहा जाता है । ये क्लिष्ट वृत्तियाँ कर्म संस्कारों के समूह को उत्पन्न करती हैं । इन क्लिष्ट वृत्तियों के ठीक विपरीत विवेक या तिविध्यक वृत्तियाँ अक्लिष्ट होती हैं । चिेक से चित्त की निवृत्ति होती है अर्थात् विवेकज्ञान से चित्त चरित्त धिक्कर हो जाता है । इस प्रकार की वृत्तियाँ गुणों के अधिकार की विरोधिनी होती हैं अर्थात् गुणों के कार्य को रोकती हैं । सत्त्वादि गुणों की प्रवृत्ति ही क्लेशा को उत्पन्न करती है । अक्लेश गुणों की निवृत्तिका विवेक्याति विव्यक

- 
- 1- ये विपर्यस्तप्रस्थ्याः क्लिन्नन्ति ते क्लेशाः, तन्म्यास्तन्मूलाश्च वृत्त्यः क्लिष्टा, ताश्च कर्मसंस्कारयस्य क्षेपीभूतास्तद्विपरीता अक्लिष्टावृत्तयो विवेक्याति-  
विध्या । पाठो पृष्ठ 24.

वृत्तियाँ अकिल्ब-वा वृत्तियाँ कही जाती हैं। विक के द्वारा अविद्या के नष्ट हो जाने पर विकल्बयाति स्व जिस वृत्ति का उदय होता है वही मुख्य अकिल्ब-वा वृत्ति है। इसी प्रकार विकल्बयातिस्वी मुख्य अकिल्ब-वा वृत्ति की सिद्धि होने में जो संपादक अथवा सहायक वृत्तियाँ हैं उन्हें गोप अकिल्ब-वा वृत्ति कहा जाता है।

विल-वा और अकिल्ब-वा वृत्तियाँ परस्पर सर्वथा विरोधी होती हुई भी कभी-कभी एक दूसरे के साथ उत्पन्न हो जाती हैं। किसी भी मूढ्य की सब वृत्तियाँ पूर्णतया विल-वा अथवा पूर्णतया अकिल्ब-वा नहीं होती हैं। विल-वा वृत्तियों के छिद्रों अर्थात् विरोधी स्थलों में अकिल्ब-वा वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अभ्यास स्व वैराग्य ही विल-वा छिद्र हैं। अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा क्षीप क्रिये हुए विल-वा वृत्तियों के प्रवाह में परमाधि-विषयक अकिल्ब-वा वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

वाचस्पति मिश्र भी इसी तथ्य को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अभ्यास वैराग्य के एकत्ररूप उत्पन्न अकिल्ब-वा वृत्तियाँ विल-वा वृत्तियों के प्रवाह में पड़ी रहने पर भी वस्तुतः अकिल्ब-वा ही रहती हैं, अकिल्ब-वा वृत्तियों के विरोधी स्थलों में भी विल-वा वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं अकिल्ब-वा वृत्तियों के छिद्र विदेमादि हैं। ऐसा कहा जाता है कि संस्कारवशा एक वृत्ति के छिद्र में अन्य अर्थात् दूसरी वृत्ति का उदय हो जाता है<sup>1</sup>।

इन विल-वा एवं अकिल्ब-वा वृत्तियों से तथा जातीयक विल-वा एवं अकिल्ब-वा संस्कार उत्पन्न होते हैं क्योंकि वृत्तियों की अमरिद्र-वा अवस्था संस्कार है और संस्कारों का उदुक्क अथवा प्रकट होना ही वृत्ति है<sup>2</sup>। वृत्तियों से

1- आश्यास वैराग्याख्यां विच्छिन्ने नैवप्रवाहे परमार्धविध्या धृत्तयो जायन्त इत्यर्थः  
... भा. पृ. 24

2- आगमनुमनाचार्योपदेशपरिशीलनलघ्वज्जमनी अभ्यासवैराग्ये विल-वा छिद्रमन्तरं तत्र पतिताः स्वयमकिल्ब-वा स्व कथमि विल-वावाह्यतिताः, न तत्र शास्त्राभि-  
किरात्प्राप्तसंकीर्णः प्रवृत्तिसन्निवि आहमः किरातो भवति । ल. घ. पृ 25-26

संस्कार एवं पुनः संस्कारों से वृत्तियाँ बनती रहती हैं । इस प्रकार से वृत्तियों एवं संस्कारों का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है । वृत्तिसंस्कार-चक्रात्मक यह चित्त जब वृत्ताधिकार अर्थात् वह चित्त जिसके कार्य समाप्त हो चुके हैं, हो जाता है तब वह धर्मिय समाधि में अपने सत्त्वत्व में सत्त्वभात्मकत्वेन स्थित रहता है अथवा प्रकृति में घिलीन हो कर कैवल्य को प्राप्त कर लेता है<sup>1</sup>।

वाचस्पति मिश्र एवं विश्वान भिक्षु दोनों के अनुसार "आत्मकल्पेन व्यवतिष्ठते" चित्त की इस अवस्था को निरोधावस्था अथवा संस्कारशोधावस्था मना है ।

आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार यह चित्त की धर्मिय समाधि की अवस्था है जिसमें चित्त अपने सत्त्वत्व में स्थित रहता है एवं दूसरी पूर्ण निरोध की अवस्था है जिसमें चित्त का प्रकृति में लय हो जाता है और कैवल्य की प्राप्ति होती है । इस संदर्भ में भास्वतीकार का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि भाष्यकार को भी इन दो भिन्न अवस्थाओं का उल्लेख ही अभिप्रेत है, न कि केवल एक ही निरोधावस्था का<sup>2</sup>।

प्रमाणादि पाँचों प्रकार की चित्तवृत्तियाँ क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट दोनों प्रकार की होती हैं<sup>3</sup>। इस बात का समाधान करते हुए कि कि

1- ~~वृत्तिसंस्कार~~ निध्ननकृत्यं चित्तसत्त्वधर्मियध्याने सत्त्वभात्मकत्वेन व्यवतिष्ठते ।  
भा. पृ. 26.

2- तदेवाभूतं चित्तं भवसिद्धाधिकारमात्मकत्वेन व्यवतिष्ठते प्रत्यं वा गच्छतीति ।

3- प्रमाणाद्विपर्यया विकल्पेन्द्रियास्तृण्यः, इति पंचवृत्तयः क्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टा वा भवन्ति, चित्तस्य प्रवृत्तौ निवृत्तौ कल्पवभावाद्, यथा-रत्नां क्लिष्टं वा प्रमाणं क्लिष्टं, रागदेश निर्वर्तकं प्रमाणमक्लिष्टम् । भा.

प्रकार की प्रमाणादि वृत्ति क्लिष्ट एवं किस प्रकार की अक्लिष्ट है आचार्य प्रत्यादिष्ट करते हैं कि विवेकज्ञान के अमुकल संपूर्ण प्रमाणादि ज्ञान अक्लिष्ट वृत्तियाँ हैं एवं उनमें विपरीत प्रमाण क्लिष्ट प्रमाण हैं । इसी प्रकार जैसे तो अस्मितादि तन्त्रामूलक होने से क्लिष्ट वृत्तियाँ ही हैं परन्तु निर्माणवित्त<sup>1</sup> के ग्रहण के समय एवं विवेकज्ञान की साधिका अस्मितादि वृत्तियाँ अक्लिष्टा विषय वृत्तियाँ हैं । विकल्प के सम्बन्ध में भी यहाँ कहा जाता है कि जो वाक्य विक उत्पन्न करें, उन वाक्यों से उत्पन्न विकल्प वृत्ति अक्लिष्टा होती है एवं विपरीत अन्य विकल्पात्मक वृत्तियाँ क्लिष्ट होती हैं । विकल्प एवं विकल्पात्तजनक शान्त्युक्त आत्मभाव की स्मृति अक्लिष्टा वृत्ति होती है एवं इसके विपरीत अन्य लौकिक वस्तुओं से सम्बन्धित स्मृति क्लिष्टा वृत्ति होती है । विवेकज्ञान के अभ्यास एवं आत्मभाव की स्मृति के अभ्यास से क्षीण की गयी निद्रा अक्लिष्टा वृत्ति है । योगाभ्यास के लिए जितनी निद्रा स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, वह निद्रा अक्लिष्टा है । इसके विपरीत जसाधारण लो साधारणतया होने वाली निद्रा क्लिष्टा वृत्ति है ।

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चित्त का स्वभाव प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप है । अतः विवेकज्ञान की ओर प्रवृत्ति करने वाली सभी वृत्तियाँ अक्लिष्टा हैं एवं विवेकज्ञान से निवृत्ति की ओर ले जाने वाली समस्त वृत्तियाँ क्लिष्टा वृत्तियाँ हैं ।

प्रमाण — इन द्विविधा वृत्तियों का पाँच प्रकार के भेद से वर्गीकरण करते हुए सर्वप्रथम प्रमाण वृत्ति को निरूपित कर तदनकार कहते हैं कि प्रत्यक्ष अनुमान एवं आगम कह तीन प्रमाण हैं । साध्यकार ने प्रमाण को सुलभ समझ कर

1 - निर्माणवित्तान्यस्मितामात्र 4-4 यो. सूत्र ।

परिभाषित नहीं किया है परन्तु परवर्ती टीकाकारों यथा वाचस्पति मिश्र एवं विद्यानभिक्षु ने प्रमाण का लक्षण करते हुए कहा है कि ज्ञात तत्त्व का पुरुष को होने वाला बोध ही "प्रभा" है एवं उस प्रभा का कारण "प्रमाण" नामक वृत्ति है<sup>1</sup> । आरण्य भी इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विषय के द्वारा बाधित न होने वाला तथा सत्पदार्थ की प्रभा का कारण ही "प्रमाण" है ।

प्रत्यक्ष — जब इन्द्रियों का बाह्य वस्तुओं के साथ सम्पर्क होता है तब इन इन्द्रिय स्वी प्रणालिका के द्वारा बाह्य वस्तु के ज्ञान विषयक वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं । यह वृत्तियाँ ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । प्रत्यक्ष विशेषकर प्रधान रूप से अधारण करने वाली वृत्ति है । शब्दादि के द्वारा ज्ञिया गया संकेत तथा जाति आदि बहुत से व्यक्तियों में समेत मानसिक गुणवाचक ४ गूणही गुण वाचि पदार्थः ४ सामान्य है । प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिपरक गुण विशेष होता है । आचार्य के अनुसार मूर्ति एवं व्यवधि ४ बाह्य विषय ४ ही विशेष पदार्थ होता है । जिन शब्दादि गुणों के अधार पर एक प्रत्य को दूसरे से पृथक किया जाता है, वही गुण उस पदार्थ की मूर्ति है । व्यवधि का वर्ण जाकर होता है । यथा एक घट का जो रूप, रंगसर्व आकारादि है, वही उसकी व्यवधि है । इस मूर्ति एवं व्यवधि रूप विशेष पदार्थ की अभिव्यक्ति एवं ज्ञान प्रत्यक्ष के बिना नहीं हो सकता है । आगम अथवा अनुमान के द्वारा किसी पदार्थ का सामान्य ज्ञान तो हो सकता है परन्तु विशेष ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण अपरिहार्य है । सामान्य पदार्थ शब्दादि संकेत से ज्ञात होता है जबकि विशेष पदार्थ शब्दादि संकेत के बिना भी ज्ञात

1- अधिगततत्त्वबोधः पौल्लेयो व्यवहारहेतुः प्रमा, तत्करणं प्रमाणम् ।

हो सकता है<sup>1</sup>। प्रत्यक्ष में विशेष पदार्थ के अतिरिक्त सामान्य पदार्थ का भी ज्ञान होता है। इसीलिए "प्रधान" शब्द पर जोर दिया गया है। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा मुख्य रूप से पदार्थ के वस्तुगत गुणों का ही ग्रहण होता है तथा जाति सत्ता आदि सामान्य गुणों के ज्ञान वा प्रत्यक्ष में गौण भाव रहता है<sup>2</sup>।

इस प्रमाण व्यापार का फल भी द्रव्य के समान होता है। इस पौल्लेख बोध के सम्बन्ध में आचार्य विज्ञानभिक्षु एवं वाचस्पति मिश्र के मत में स्पष्ट मतभेद प्रतीत होता है। इस संदर्भ में इस मतभेद का संक्षिप्त अलोकन असम्भव नहीं होगा। वाचस्पति मिश्र के अनुसार पौल्लेख ज्ञान के लिए सर्वप्रथम जड़ बुद्धि चेतन पुरुष की छाया से चेतनबद्ध होता है। फलस्वरूप वह किसी पदार्थ को देख कर पदार्थाकाराकाराति हो जाती है। जड़ बुद्धि को चेतन बनाने के लिए पुरुष का जो प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ने से पड़ा रहता है, वही पुरुष प्रतिबिम्ब इस बुद्धिनिष्ठ ज्ञान का भोग करता है। यही पौल्लेख बोध है, इसको प्रभा कहते हैं। वाचस्पति मिश्र के सिद्धान्त के अनुसार केवल एक ही प्रतिबिम्ब बुद्धि का पुरुष पर पड़ता है। अतः इस मत को एक प्रतिबिम्बवाद कहते हैं<sup>3</sup>।

1- सामान्यपदार्थः शब्दादिसकैत्मानुगम्यः विशेषतः शब्दादिसकैतद्विना अपि गायते । — भा. पृ. 28

2- प्रत्यक्षेण वास्तवगुणा एवं प्रधानतो गृह्यन्ते, ज्ञातिसत्ता आदिसामान्यगुण-प्रतिपत्तीनां तत्राप्रधानमित्यर्थः । भा. पृ. 28.

3- बुद्धिदर्पण पुरुषप्रतिबिम्बसंज्ञान्तिरेव बुद्धिप्रतिसकैदित्यं पुंसः । तथा च दृशिच्छाया अपन्था बुद्ध्या संज्ञाः शब्दादयो भवन्ति दृश्या इत्यर्थः । त. छ. प. 214.

प्रभा की प्रक्रिया के लिए विज्ञानभिक्षु के अनुसार सबसे पहले जड़ बुद्धि पुरुष की धार्यावृत्ति से चेतनवत हो जाती है तब वह पदार्थ का प्रत्यक्ष करके पदार्थाकारणकारिण हो जाती है। यहाँ तक कि प्रक्रिया में मिश्र एवं भिक्षु में रेख्य है। भिक्षु के अनुसार बुद्धि के पदार्थाकारणकारिण होने के पश्चात् इस बुद्धिस्थ ज्ञान का पुरुष पर प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस द्वितीय अर्थात् बुद्धिस्थ ज्ञानके पुरुष पर पड़े हुए प्रतिबिम्ब के फलस्वरूप ही पौण्ड्र्य बोध होता है। जो एक प्रभा है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार दो प्रतिबिम्ब अर्थात् पहले बुद्धि पर पुरुष का एवं फिर पुरुष पर बुद्धि का पड़ते हैं। अतः यह मूल द्विप्रतिबिम्बवाद के नाम से प्रसिद्ध है<sup>1</sup>।

अनुमान — सामान्य का प्रधानतया अवधारण करने वाली वृत्ति अनुमान प्रमाण है। पक्ष में रहने वाला एवं विपक्ष में न रहने वाला जो सम्बन्ध होता है उसे हेतु अथवा लिङ्ग कहते हैं। जिज्ञासित एवं हेतु के गरा ज्ञान होने वाला पदार्थ अनुभूय होता है। सपक्षों में अनुवृत्त एवं विपक्षों में व्यावृत्त हेतु अथवा लिङ्ग विषयक पदार्थों के सामान्य धर्म का ही प्रधानतया अवधारण कराने वाली वृत्ति अनुमान प्रमाण<sup>2</sup> है। अनव्यव्यापित के आधार पर अनुमान प्रमाण का उदाहरण है। देशान्तरप्राप्तेर्गतिश्चन्द्रतारकं चैव अर्थात् जहाँ जहाँ देशान्तर प्रापित है वहाँ वहाँ गतिमत्ता है। उदाहरणार्थ चैव। अतः चन्द्र एवं तारक भी गतिशील हैं। क्योंकि उनकी भी चैव के

1- चेतने तावद् बुद्धिप्रतिबिम्बवर्षे स्वीकार्यम् अन्यथा कूटस्थित्यविभूयैत्यस्य सर्वसंबन्धात्तदेव सर्वं कर्तुं सर्वैक्यित न हि सूर्यसंबन्धे सति पञ्चप्रकाशो ह्येव इति यथा च पिति बुद्धेः प्रतिबिम्बमेव बुद्धावसि चित्रप्रतिबिम्बं स्वीकार्यमन्यथा चैतन्यस्य भ्रानानुपपत्तेः यो. वा. पृ. 22

2- सम्बन्धकप्रतिबिम्बा हेतु निबन्धना या वृत्तिस्तदनुमानं प्रमाणम्,

समान देशान्तर प्राप्ति होती है। व्यतिरेकव्याप्ति के द्वारा जहाँ गतिमत्ता नहीं प्र नहीं होती वहाँ देशान्तर प्राप्ति भी नहीं होती। जैसे विन्ध्य पर्वत। इस प्रकार से अन्वय एवं व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर किसी पदार्थ का अनुमान किया जाता है।

सागम — ऐसे अधि योगी जिनके ज्ञान के विषय में कोई विवाद नहीं होता है, वे आप्त कहे जाते हैं। ऐसे आप्तजनों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत अथवा अनुमित पदार्थ के विषय में प्रवण के द्वारा श्रोता के चित्त में जो वृत्ति बनती है उसे आगम-प्रमाण कहते हैं। आप्तजनों के प्रवण से उनका निश्चय ज्ञान श्रोता के मन में भी स्वस्वदृशा निश्चय ज्ञान करता है, यही आगम प्रमाण है। वेदादि शास्त्र आप्तजनों के द्वारा प्रत्यक्षीकिये गये हैं। किन्तु वे आगम नहीं हैं क्योंकि आचार्य के अनुसार आगम के लिए वक्ता एवं श्रोता दोनों का अस्तित्व आवश्यक है।

इन्द्रियादि दोष के कारण जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण दूषित होता है एवं हेत्ताभासादि के कारण अनुमान प्रमाण में दोष रह जाता है, उसी प्रकार कभी-कभी आगम प्रमाण में भी कोई त्रुटि रह जाना संभव है। यदि आप्त-पुरुष का ज्ञान अक्षुब्ध हो तो आगम भी दूषित हो जाता है।

यहाँ पर आगम के "मूलवक्ता" के लिए वाचस्पति मिश्र ने ईश्वर से तात्पर्य व्यक्त किया है। परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि ईश्वर को तो सभी विषय प्रत्यक्ष हैं, अनुमान का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ईश्वर को ही आगम का एकमात्र स्रोत मानने पर अन्य आगम का अस्तित्व नहीं रह सकेगा। आगम का स्रोत ईश्वर को मानने के विषय में उपर्युक्त त्रुटियाँ होने के कारण आचार्य हरिहरानन्द आरण्य ने आप्त वक्ताओं को ही आगम वृत्ति के प्रति उत्तरदायी बना है। आचार्य का मत ही अधिक युक्तिसंगत है।

---

1- "वक्ता श्रोता चास्यागमप्रमाणस्य ते भावने, तस्माद् पाठानिश्चयो नागमप्रमाणस्य" भा. पृ. 32



विपर्यय— प्रत्यक्षी ही प्रमाणों से बाधित होने वाला मिथ्या ज्ञान ही विपर्यय<sup>1</sup> है। यह विपर्यय अत्ररूपप्रतिष्ठ अर्थात् वस्तु का जो वास्तविक यथार्थ रूप है उससे भिन्न का ज्ञान कराने वाला होता है। इस भ्रान्त ज्ञान जो प्रमाण निरस्त कर देता है। तत्त्ववैशाखदीपक के अनुसार विपर्यय के अन्तर्गत संशय भी आजाता है<sup>2</sup>। क्योंकि संशय में भी मिथ्या ज्ञान ही होता है।

विपर्यय वृत्ति का मूल कारण अविद्या ही है। यह अविद्या पंच पर्यात्मक— अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, क्रोध एवं अभिनिवेश होती है। यही पांच पर्यं ज्ञेया भी कहलाते हैं। विपर्यय वृत्ति को कारणीभूता अविद्या ही चित्त के भ्रं है। अविद्यादि पंचज्ञेयों को विष्णुपुराण में तमः, मोह, म्हा मोह, तास्मिन् एवं अन्धतास्मिन् इन नामों से अभिहित किया गया है।

“तमो मोहो म्हा मोहस्त तास्मिन्ध्वन्धसंश्रितः।

अविद्या पंचपर्यंभा प्रादुर्भूता म्हात्मनः ॥” 1.5/5

यो गिजन अविद्या रूप विपर्यय को केवल्य में बाधक जानकर इनका निरोध करते हैं।

विकल्प -- विकल्पवृत्ति शब्दज्ञान के अनुपाती ओर वस्तुशून्य अर्थात् अनास्त्य पदार्थ शब्द का अधिमान्य विषयक अथव्यवहार्य रूप प्रकार का ज्ञान है। यह विकल्पवृत्ति<sup>3</sup> नैप्रमाण में अन्तर्मुख होती है और न ही

1- विपर्यययो मिथ्याज्ञानमत्ररूपप्रतिष्ठम् यो. सू. पृ. 33 1-8

2- संशयोऽपि संशयितः त. वे. पृ. 33

3- अवस्तुवाचक शब्दज्ञानस्यानुपात्तज्ञाननिबन्धनो वस्तुशून्यो

तामन्तता ध्यान्वो विकल्पः भा. पृ. 36.

ही विपर्यय में । विकल्पवृत्ति शब्दज्ञानजन्य होती है तथा किसी वस्तु का बोध नहीं कराती अर्थात् निर्विकृत होती है । विकल्पवृत्ति की प्रमाण एवं विपर्यय से भिन्नता प्रदर्शित करते हुए आरण्य स्पष्टतः कहते हैं कि प्रमाण का विषय वस्तुतः यथार्थ होता है तथा मिथ्या ज्ञान सिद्ध होने के कारण विपर्यय का व्यवहार नहीं किया जाता है । परन्तु विकल्प वस्तुभूय होते हुए भी लोकव्यवहार में व्यवहृत होता है । जैसे "चेतन्यस्य पुस्तकस्य स्वस्मिन्" । इस कथन से विशेषण विशेष भाव का बोध होता है । परन्तु यहाँ पर यह सम्बन्ध अर्थात् विशेषण विशेष भाव तथा भित नहीं किया जा सकता क्योंकि जब चेतन्य पुस्तक का स्वस्म ही है अर्थात् चेतन्य और पुस्तक अभिन्न हैं तो पुरुष को चेतन्य नामक गुण से किस प्रकार विशेषित किया जा सकता है । परन्तु फिर भी इस कथन का व्यवहार होता ही है । इसी प्रकार "राहोः शिरः" इस वाक्य के द्वारा भी विकल्पवृत्ति ही बनती है, क्योंकि राहु और शिर दोनों एक ही हैं क्योंकि शिर ही का राहु नाम है ।

आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार विकल्पवृत्ति को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है . 1- वस्तु विकल्प, 2- क्रिया विकल्प, 3- अभाव विकल्प । प्रथम वस्तु विकल्प का उदाहरण "चेतन्यस्य पुस्तकस्य स्वस्मिन्" एवं "राहोः शिरः" हैं । दूसरे प्रकार के विकल्प अर्थात् क्रिया विकल्प का उदाहरण है "वाणरित्पठति" । इस विकल्प में अकर्ता व्यवहार में कर्ता के दृष्टान्त समान प्रतीत होता है । गतिनिवृत्ति स्वयं एक क्रिया है जो वाण में न होती हुई भी व्यवहार में कही जा रही है अर्थात् वाण में वस्तुतः गतिनिवृत्ति के अनुकूल कर्तृत्व नहीं है फिर भी वाणगतिनिवृत्ति क्रिया के कर्तृत्व में व्यवहृत होता है । इसे क्रिया विकल्प कहते हैं ।

---

1- शब्दज्ञानानुमाती वस्तुभूयो विकल्पः । यो. सू. 1-9

तीसरे प्रकार अर्थात् अभाव विकल्प का उदाहरण है— "अनुत्पत्ति धर्म पुरुषः"। इस कथन से पुरुष में उत्पत्ति धर्म का अभाव है। इस प्रकार की विकल्प वृत्ति बनती है परन्तु यह सत्य नहीं है<sup>2</sup>। क्योंकि अभाव नामक कोई धर्म पुरुष में है ही नहीं। इसी कोटि का एक अन्य उदाहरण "प्रतिनिव्यस्तुचर्मो निव्यस्तुचः पुरुषः" का भी है। इस वाक्य के द्वारा पुरुष सामान्य विशेषण से रहित सर्व क्रियाहीन छत प्रकार प्रतीत होता है। पुरुष का यह विशेषण भी वैकल्पिक ही है क्योंकि सांख्य में "अभाव" नामक कोई पदार्थ अस्तित्व ही नहीं रखता जो कि पुरुष का विशेषण बन सके।

विकल्प वृत्ति के स्वल्प प्रत्यादान में सभी व्याख्याकारों ने प्रायः समान उदाहरण दिये हैं परन्तु विकल्पवृत्ति की वस्तुबन्ध विधियों की भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का गूढ़ आलोचन कर इस वृत्ति को तीन भागों — 1- वस्तु, 2- क्रिया, एवं 3- अभाव — में विभाजित करने का श्रेय सम्मान आरण्य को ही है। अन्य व्याख्याकारों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है।

न्द्रा — जागृत तथा स्वाप्न वृत्तियों के अभाव के प्रत्ययस्वल्प द्वितुभूतत्वमस को अलम्बन बनाने वाली वृत्ति न्द्रा कही जाती है<sup>4</sup>। न्द्रा के

1- न च पुरुषान्वयी पुरुषातः कश्चिद् धर्मोऽवग यते तस्मात् सोऽनुत्पत्तिपदवाच्यो धर्मो विकल्पितस्तेन = विकल्पेन चेताद्गवा तस्य व्यवहारोऽस्ति। भा. पू. 37-

2- पुरुषत्वज्ञो धर्माणाम्भावमात्रेण विवक्षितं न कश्चिद् वास्तव्यो धर्मः, तास्मादेतदाव्यस्त्यासौ वैकल्पिकः। भा. पू. 37.

3- न खलु सांगस्थिये रादान्तेऽभावे नाम कश्चिदस्ति वस्तुधर्मो येन पुरुषो विवक्ष्ये-  
तेत्यर्थः, त. वे. पू. 37.

4- अभाव प्रत्ययालम्बनावृत्तिन्द्रा। 1-10.

वृत्तितत्त्व के सम्बन्ध में कुछ दार्शनिकों में मतभेद है जतः इस कारण सूत्रकार ने अनुवृत्ति से प्राप्त होते हुए भी पृथक् रूपेण निद्रा को सूत्रकार करते हुए "वृत्ति" शब्द को जोड़ दिया है। यह निद्रा भी प्रमणादि के सदृश एक वृत्ति ही है एवं इसका निरोध भी उतना ही आवश्यक एवं अपरिहार्य है जितना कि अन्य वृत्तियों का ।

निद्रा के उपरान्त उसका स्मरणात्मक ज्ञान होता है और ज्ञान-रूप होने के कारण ही निद्रा एक वृत्ति है । तो वह उठने पर प्राणी को "मैं सुख से सोया, भेश मन प्रसन्न है", अथवा "मैं दुःख से सोया, भेश मन सकीर्ण्य है ।" आदि प्रकार का स्मरण होता है । यह स्मरण किसी अनुभव के आधार पर ही होता है और इस अनुभव की आधारभूत तत्त्वप्रधान वृत्ति ही निद्रा है । सात्त्विक गुण के अभिभूत होने के कारण निद्रा तमोश्मा अथवा तमोगुण प्रधाना होती है<sup>2</sup>।

निद्रा तामस वृत्ति है<sup>3</sup>। जागृत और स्वप्न की तुलना में तमोगुण के प्राबल्य के कारण निद्रा में स्थैर्य होता है । परन्तु यह स्थिरता सग्रादि की स्थिरता से सर्वथा विपरीत है । आरण्य निद्रा एवं तमोधि के भेद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि निद्रा स्वच्छा पर निर्भर नहीं रहती है जबकि तमोधि यो गिजनों की इच्छा पर निर्भर है । इसी प्रकार निद्रा तमस प्रधान होने के कारण पंक्युक्त मूम्बु जल के समान है । जबकि तमोधि तत्त्वगुण प्रधान होने के कारण स्वच्छ निर्मल जल सदृश है । साथ ही

1- निद्रायास्तु वृत्तितत्त्वे परीक्षक जागृति विप्रतिवृत्तिरिति वृत्तितत्त्वं विधेयं न च प्रकृतमुपादेक विधानाद्य कल्पत इति पुनर्वृत्तिग्रहणस्य । तद्वे. पृ. 38

2- तमो विध्या वृत्तिरत्कफुटं ज्ञानं निद्रा स्वप्नहीना सुषुप्तिविरतिं सूत्रार्थः । भा. पृ. 38

3- तत्त्वान्वागरणं विद्याइंजा स्वप्नमदिशोत । प्रस्वापन तु तमसा तुरीयं

कभी-कभी शारीरिक अथवा मानसिक अस्वास्थ्य के कारण साधारण जनों में भी इन्द्रियारहित्य देखा जाता है किंतु इसे योग कदापि नहीं सम्झना चाहिए क्योंकि इन्द्रियारहित्य का निरोध होने पर भी अन्य वृत्तियाँ तो इस अवस्था में विद्यमान रहती ही हैं। अतः समाधि साधन के लिए इन्द्रियारहित्य का निरोध करना पड़ता है। क्योंकि एकाग्रता सदृश होते हुए भी वह तगस्र प्रधान है<sup>1</sup>।

स्मृति— अनुभूत विषयों का चित्त से अस्मप्रभोधः अर्थात् लुप्त न होना ही स्मृति है<sup>2</sup>। अस्मप्रमत्तिः = अस्मैय अथवा निजस्वामात्र काग्रहण, परस्व का अग्रहण। स्मृति स्व वृत्ति के द्वारा पहले अनुभूत किये गये वस्तुओं का ही पुनःस्मरण होता है। स्मृति ग्राह्य अर्थात् घटादि स्व एवं ग्रहण अर्थात् "घअहं-जानामि"<sup>2</sup> इन उभयाकार की होती है। स्मृति में ग्राह्य स्व का प्राधान्य एवं ग्रहण का गौणत्व होता है<sup>3</sup>। तात्पर्य यह है कि स्मृति वस्तुतः अनुभूतविषयों की ही होती है, एवं विषयानुभव तो प्रभाय के कोटि में आ जाता है।

स्मृति दो प्रकार की होती है— भावितस्मर्तव्या एवं अभावितस्मर्तव्या। जो स्मृति कल्पना पर आधारित अतस्व मिथ्या होती है उसे भावितस्मर्तव्या स्मृति कहते हैं।

योगमार्ग पर आरुढ़ योगिजनों को इन सभी वृत्तियों का निरोध आवश्यक है। इन वृत्तियों के निरोध के द्वारा योगी क्रमशः सम्प्रज्ञात एवं अस्मप्रज्ञात समाधि का लाभ कर सकता है।

1- एकाग्रतुल्या अपि तामसत्त्वेन इन्द्रा सबीजनिर्बाजसमाधिप्रतिक्षेपि सा अपि निरोद्धयेत्यर्थः। तद्वै० पृ० 40.

2- प्रमापिदिभिरनुभूतविषये यो अस्मप्रभोधः अस्मैयः सा स्मृतिः, तद्वै० पृ० 41.

3- स्मृतौ पुनर्ग्राह्यरूपस्य घटाद्यधिगतविषयस्य प्राधान्यमुग्रहणव्यापारस्या-  
प्राधान्यमिति दिक्। भा. पु. 43.

### चित्तविक्षेप

योग मार्ग में आने वाले किन्तु चित्त-विक्षेप कहे जाते हैं। इन चित्त-विक्षेपों को योगम्बु, योग-प्रतिषेध अथवा योगान्तराय भी कहते हैं<sup>1</sup>। ये व्याधि-स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व एवं अनविस्थितत्व— इन भेदों से नौ प्रकार के हैं<sup>2</sup>। दुःख, दौर्मन्य, ओम्ब्यत्व, श्वास एवं प्रश्वास ये पांच भी उपर्युक्त नव-अन्तरायों के साथी हैं<sup>3</sup>।

अन्तराय नष्ट होना तथा चित्त का सम्यक् समाहित होना एक ही बात है। सुष्ण शरीर द्वारा योग का प्रयत्न भली-भांति नहीं हो सकता है। उपद्रवांस्तथा रोगानु हितजीर्णमितारानात् ५ आन्ति पर्व 247/8४ योगमार्ग की ओर अग्रसर होने वाले व्यक्ति के लिए शारीरिक रूप से पूर्ण स्वस्थ होना अत्यन्त आवश्यक है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ बुद्धि रहती है। व्याधि एक म्हान अन्तराय है। वात, पित्त एवं कफ इन तत्वों से शरीर निर्मित हुआ है। यदि ये तीनों समानुक्ल अवस्था में रहें तो शरीर स्वस्थ एवं निरोगी रहता है।

चित्त की अकर्मण्यता स्त्यान है। चित्त की अकर्मण्यता दूर करने के लिए चित्त को बलवत् प्रवृत्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

दोनों जौवियों को स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। "यह ऐसा है" अथवा "इससे यह भिन्न है" अथवा "मैं ऐसा कर सकूँगा या नहीं" यह संशय का स्वरूप होता है। इस प्रकार "हां" अथवा "नहीं" इन जौवियों

1- एते चित्तविक्षेपा नव योगम्बु योगप्रतिषेधा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ।  
योगभा० पृ० 8२

2- व्याधि स्त्यानसंशयप्रमादा अलस्यथा अविरतिभ्रान्ति दर्शना अलब्धभूमिकत्वा अनविस्थितत्वा चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः । योग सू० 1-30.

3- दुःखदौर्मन्योम्ब्यत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः 1-31.

के मध्य दोलायमान स्थिति ही संशय है। तत्त्वैव ता सम्बन्धों की सत्संगमति से संशय का निर्सन किया जा सकता है।

तामसा धिक्व के कारण भारीपन एवं निद्रादि के कारण शरीर एवं चित्त दोनों ही साधना में प्रवृत्त नहीं होते हैं। इसी अप्रवृत्ति को आन्ध्र्य कहते हैं<sup>1</sup>।

ऋतु का अयथायुक्त ज्ञान, मिथ्याज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान ही भ्रान्ति-दर्शन है<sup>2</sup>। योगमार्ग पर अज्ञानरूपी योगी भ्रान्ति के कारण योगसिद्धियों को ही योग का चरम लक्ष्य मान लेते हैं। योग की निम्न भूमियों को उच्च भूमि एवं उच्च भूमियों को निम्न सम्झना ही भ्रान्तिदर्शन है।

समाधिमार्ग के कटकवन्ध ये ऋतराय अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा निरस्त किये जाते हैं। इन विधियों को दूर करने के लिए "एकतत्त्व" का अभ्यास करना चाहिए<sup>3</sup>। इस प्रसंग में एकतत्त्व को लेकर व्याख्याकारों में कुछ विवाद है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार "एकतत्त्व" का अर्थ ईश्वर है<sup>4</sup>। भोज एवं विज्ञानमिश्र के अनुसार एकतत्त्व का अर्थ कोई एकतत्त्व है। आरण्य वाचस्पति मिश्र के ही मत को सुस्पष्ट करते हैं कि एकतत्त्व से तात्पर्य ईश्वर अथवा अहं तत्त्व से ही है<sup>5</sup>। ईश्वर अथवा अहंतत्त्व के अभ्यास से चित्त को शीघ्र ही

1- गुरुत्वाद् जड्यासु निद्रातन्द्राद्वितामसात्कथाया वा कायचित्तयोः  
साधनेऽप्रवृत्तिः । भा. पृ. 89.

2- भ्रान्तिदर्शनं तत्त्वानामतदुप्रातिष्ठतं ज्ञानम् । भा. पृ. 89.

3- तत्प्रतिभेदाधिकतत्त्वाभ्यासः यौ० सू. 1-32

4- एकतत्त्वम् ईश्वरः प्रकृतत्वादिति । तद्वै० पृ. 91.

5- एकतत्त्वत्वात् कथायादयः भावः अठविधो, ईश्वरप्रणियानेऽप्यात्माननीश्वरस्य  
इत्था ईश्वरवदहमिति ध्यायेत् । भा. पृ. 91-92.

दिव्यतिलाभ होता है। आचार्य का ही मत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है क्योंकि ईश्वर एवं अहंतत्त्व के सदृश ध्यान के लिए श्रेष्ठ विषयों का कथन ही सुनकार को अभीष्ट होना चाहिए। ईश्वर एवं अहंतत्त्व इन श्रेष्ठ तत्त्वों के रहते हुए अन्य किसी तत्त्व का अभ्यास करने की आवश्यकता ही नहीं है। वस्तुतः ईश्वर का समावेश योगदर्शन में इसी अभिप्राय से किया गया है कि वह योगमार्ग के कण्टकों का निवारण करता है एवं चित्त को दिव्यतिलाभ में सहायता पहुंचाता है। अन्यथा योग की तत्त्वमीमांसा में ईश्वर का अन्य कोई सक्रिय योगदान नहीं है। जैसे भी किसी भी एकतत्त्व के चिन्तन में सर्व ईश्वर चिन्तन में बहुत अन्तर है। एक दृष्टान्त के द्वारा यह अन्तर सहज ही स्पष्ट किया जा सकता है। यथा छाया प्रदान करना सूक्ष्मत्र का कार्य है परन्तु घटवृक्ष की छाया में सर्व किसी साधारण वृक्ष की छाया में बहुत अन्तर होता है। उसी प्रकार किसी भी एकतत्त्व के अभ्यास से योगान्तराय दूर तो फिर जा सकते हैं परन्तु ईश्वर अथवा अहंतत्त्व के अभ्यास के द्वारा अधिक शीघ्र एवं अच्छी प्रकार से यह कार्य संपादित किया जा सकता है। अतः आचार्य का यह मत कि ईश्वर अथवा अहंतत्त्व का अभ्यास करने से योगमार्ग के अन्तराय दूर होते हैं, अधिक ग्राह्य एवं समीचीन प्रतीत होती है।



### चित्त परिकर्म

चित्त को समधिओं के योग्य बनाने के लिए पहले जो तैयारी की जाती है योग में उसे परिकर्म कहते हैं। आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार चित्त को परिष्कृत एवं परिशुद्ध करने के उपाय ही परिकर्म हैं<sup>1</sup>। विज्ञानभिक्षु के मतानुसार भी समधि की स्थिति को दृढ़ बनाने के लिए जो परिष्कार किये जाते हैं वे ही परिकर्म कहलाते हैं। इन परिकर्मों का मुख्य प्रयोजन यह है कि इनके द्वारा चित्त को प्रसन्नता का अनुभव होता है। फलस्वरूप चित्त समधिलाभ करने के लिए योग्य हो जाता है। साधारण भाषा में परिकर्म प्रारंभिक अभ्यास अथवा अभ्यास के प्राथमिक चरण कहे जा सकते हैं।

परिकर्म मुख्यतः सात हैं। पहला परिकर्म मन की भावना से सम्बंधित है। सुखी, दुखी, पुण्यपात्र एवं पापी जीवों के क्रमानुसार मैत्री, करुणा, मुद्रिता एवं उपेक्षा की भावना रखने से चित्त प्रसन्न होता है<sup>2</sup>। लोक में प्रायः दूसरों को सुखी देखने पर अपने मन में ईर्ष्या की भावना उत्पन्न होती है। अपने शत्रु आदि पर कोई दुःख आ पड़े तो आनन्द की अनुभूति होती है। इसी प्रकार पुण्यात्मा के दर्शन से अक्षयत्व होता है तथा पापात्माओं के चिन्तन से क्रोध उत्पन्न होता है। लौकिक व्यवहार में जो ये प्रतिक्रियाएँ होती हैं वे

चित्त को कभी भी समहित नहीं होने देतीं एवं तदैव उद्विग्नता काये रखती हैं। इसी कारण इस प्रथम परिकर्म में भावनाओं को नियन्त्रित एवं परिशुद्ध करने का उपाय बताया गया है। आचार्य विष्णु को सुगम करते हुए कहते हैं कि सुखसम्पन्न प्राणी अपने मित्र ही हैं एवं जिस प्रकार का आनन्द मित्र के

1- विश्वकर्षे यदिदं परिकर्म परिष्कृतिः भा. पृ. 97.

2- मैत्रीकरुणामुद्रितोपेक्षाणां सुबुद्धुःपुण्यापुण्यविधाधां गयनात्त्रिचत्प्रसादनम् ।  
यो. सू. 1-33.

सुखी होने पर होता है उसी प्रकार अन्य लोगों को सुखी देख कर आनन्दित होना चाहिए<sup>1</sup>। इसी प्रकार अपने स्वजनों एवं प्रियजनों के दुखी होने पर जिस प्रकार दुःख एवं कष्टता होती है उसी प्रकार इस जगत के प्राणिमत्र के दुःखी होने पर कष्टता की भावना करनी चाहिए। मित्र या शत्रु जो भी पुण्यात्मक इस संसार में हों उनके प्रति मुदितता की भावना करनी चाहिए। पापीजनों के दोष दिखने पर भी उनके प्रति उपेक्षा उदासीनता की भावना करनी चाहिए। सूक्ष्म उपेक्षा शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए आरण्य कहते हैं कि हम अपने मित्र अथवा परिचित स्वजनों के पापात्मक आचरण की उपेक्षा करते हैं अर्थात् न तो उनका दोष अथवा बुराई करते हैं एवं न ही उनका अनुमोदन ही करते हैं<sup>2</sup>। उनके प्रति सर्वथा असम्बन्धता एवं उपेक्षा का भाव रखते हैं। यही उपेक्षा संसार के समस्त प्र पापी प्राणियों के प्रति रखनी चाहिए।

मैत्री, करुणा, मुदितता एवं उपेक्षा इन चार प्रकार की भावनाओं से चित्त निर्मल एवं प्रसन्न होता है एवं समा विलास होने में विशेष सहायता प्राप्त होती है। बौद्धदर्शन में इन भावनाओं का विशेष महत्त्व है एवं इन्हें बौद्ध ब्रह्मविहार कहते हैं तथा इन्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति के साधन मानते हैं। इन मानसिक भावनाओं के माहोत्स्य एवं उनकी उपादेयता को श्रीमद्-भाष्यगीता में भी स्वीकार किया गया है।

प्रचर्दन और विधारण परिकर्मों के रूप में द्वितीय आते हैं। प्रचर्दन एवं विधारण के द्वारा भी मन स्थिर होता है<sup>3</sup>। शरीर के अन्दर स्थित

1- सुखसम्पन्नेषु सर्वप्रापिष्यकादिश्वसि मैत्री भाष्येत् स्वमित्रस्य सुखं जाते यथा सुखी भेस्तथा भाष्येः । भा. पू. 97.

2- स्वर्गायाणां पाकृतामाचरणमुपेक्षते न चिद्विषयान्नानुमोदयेदिति । भा. पू. 98.

3- प्रचर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य । यो. सू. 1-34.

वायु को यौगिक विधि के द्वारा नासिकापुत्रों से बाहर निकालना प्रच्छेदन है । प्राणायाम ही विधारण है ।

प्राणायाम करते समय चित्त का रकाश होना अत्यावश्यक है । प्रच्छेदन से तात्पर्य रेचक से है एवं विधारण के अन्तर्गत पूरक एवं कुम्भक ये दोनों आते हैं । इस प्रक्रिया को समझते हुए आचार्य कहते हैं कि वायु बाहर निकाल देने अर्थात् प्रच्छेदन के पश्चात् यथाशक्ति जितने अधिक समय तक हो सके वायु को अन्दर नहीं करना चाहिए । तब प्रयत्न करके चित्त को ध्येय विषय में लगाना चाहिए एवं साथ ही अन्य विचारों का विधारण अर्थात् त्याग कर देना चाहिए । तब पुनः ध्येय में ही चित्त को लगाये हुए युक्तिपूर्वक वायु को शरीर के अन्दर कर लेना चाहिए और पुनः प्रच्छेदन के द्वारा बाहर निकालना चाहिए । इस प्रकार प्रच्छेदन एवं विधारण के निरन्तर अभ्यास से चित्त को स्थितिलाभ होता है । इस प्रसंग में सूत्र "प्रच्छेदनविधारणाम्यां वा प्राणम्यं" में वा शब्द के प्रयोग के कारण विज्ञानभिक्षु इसे विकल्पात्मक मान कर मैत्री, करुणादि भावनाओं में संग्रहीत कर प्रच्छेदन विधारण को भी चित्त को प्रसन्न करने का उपाय बतलाते हैं । रामवानन्द सरस्वती एवं रामानन्दयति विज्ञानभिक्षु से असहमत हैं । आचार्य हरिहरानन्द आरण्य भी "वा" इस विकल्प के आधार पर प्रच्छेदन एवं विधारण को चित्त की प्रसन्नता का हेतु नहीं मानते हैं वरन् उनके अनुसार प्राणायाम चित्त को स्थितिलाभ कराता है ।

प्राणायाम के अतिरिक्त अन्य भी कुछ परिकर्म हैं जो कि मन को स्थैर्य प्रदान करते हैं । इन परिकर्मों में गन्धरतादि पांच विधियों का साक्षात्कार करने वाली वृत्तियाँ उत्पन्न होकर मन को स्थिरता देने में कारणीभूत होती हैं<sup>2</sup> ।

1- चमनं प्रच्छेदनं, ततो विधारणं=यथाशक्ति क्विन्कालं वाक्च, वायोरग्रहणं, ततः प्रत्यनेन सह चित्तस्यापि धारणायि देशी रूपाफ मन्थचिन्तापरिहारश्च, ततः पुनर्ध्यायगतचित्ततित्कञ्च वायुं तील्याअचम्य पुनः प्रच्छेदनमित्यस्य निरन्तराभ्यासेन चित्तमकाग्रमभिकुर्व्यात् । भा. पृ. 98-99

2- विष्यवती वा प्रवृत्तिस्त्यन्ना मन्त/स्थितिकथनी । यो. सू. 1-35.

भोज विषयवती प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण करते हैं कि मृ गन्धादि विषय फलरूप में जिसमें विमान रहते हैं वह विषयवती प्रवृत्ति है एवं यह मन को स्थिर करती है<sup>1</sup>। नासिकाग्र में धारणा करने से जो दिव्य सुगन्धानुभूति होती है, वह गन्धप्रवृत्ति है। विह्वाराग्र में धारणा से प्राप्त दिव्य रसानुभव रसप्रवृत्ति है। तालुदेश में धारणा करने से दिव्य स्पर्श का साक्षात्कार होना स्पर्शप्रवृत्ति है। जिह्वा के मध्य में धारणा करने से दिव्य स्पर्श का साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है, जिसे स्पर्शप्रवृत्ति कहते हैं। इसी प्रकार जिह्वा की जड़ में धारणा करने से दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है, यह शब्द प्रवृत्ति है। इस प्रकार उपर्युक्त ये पांच विषयवती प्रवृत्तियाँ होती हैं।

इन विषयवती प्रवृत्तियों में से किसी एक का साक्षात्कार साधक को अवश्य कर लेना चाहिये। क्योंकि योगशास्त्र में प्रतिपादित सभी तथ्य सत्य एवं विश्वसनीय हैं परन्तु फिर भी स्वयं साक्षात्कार कर लेने से साधक के धन में अधिक श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है एवं फलरूप वह दिगुणित उत्साह के साथ समधिशाधना की ओर तत्पर होता है।

विषयवती प्रवृत्तियों के अतिरिक्त विज्ञानोक्त व्योतिष्मती प्रवृत्ति भी चित्त की स्थिति में हेतु बनती है<sup>2</sup>। सात्त्विक भावना के अभ्यास के फलरूप चित्त परम सुखमय हो जाता है, यही विज्ञानोक्त स्थिति है। ज्ञानालोक के आधिपत्य के कारण इसे व्योतिष्मती कहते हैं। आचार्य के अनुसार श्री रामानन्द के उद्देश से सकल दुःखहीन स्थिति विज्ञानोक्त एवं ज्ञानमय बोध के

1- विषयाः मन्धरसस्पर्शशब्दास्ते निवृत्ते फलत्वेन यस्याः ता विषयवती प्रवृत्तिः मन्सः स्थैर्यं करोति। रा. भा. सू. पृ. 24

2- विज्ञानोक्त वा व्योतिष्मती। यो. सू. 1-36

आश्रित्य के कारण ज्योतिष्मती है<sup>1</sup>।

"चित्तसंपि" एवं "अस्मिता संपि" इन द्वे भेदों से यह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति निर्दिष्ट होती है। जिस प्रकार विषयवती प्रवृत्तियों का साक्षात्कार नासिका, तालु, ब्रह्मा आदि निम्न स्थानों पर धारणा करने से किया जाता है उसी प्रकार से विशोक ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की धारणा के लिए अनाहतादि सात चक्र रूप स्थल निम्न हैं। कमल के आकार के घटने के कारण इन चक्रों को कमल भी कहते हैं।

विशोक ज्योतिष्मती के द्विविध भेदों में से प्रथम अर्थात् चित्तसंपि का वर्णन भाष्यकार करते हुए कहते हैं कि हृत्कमल में धारणा करने वाले साधक को जो युक्ति साक्षात्कार होता है उससे उसका चित्त सात्त्विक ज्योतिष्करूप आकाश के सदृश प्रकाशित होता है। सात्त्विक निर्मलता के कारण वह प्रवृत्ति कभी सूर्य, कभी चन्द्र, अथवा मणि एवं ग्रह की ज्ञान्ति के रूप के समान प्रतिभासित होती है।

आचार्य के अनुसार "अस्मिता" में धारणा करने से चित्त चित्तक आदि तरंगों से रहित निरंतरंग शांति एवं अकृत हो जाता है<sup>2</sup>। यह अस्मितसंपि-रूपिणी विशोक ज्योतिष्मती है। इसके लिए पंचशिखाचार्य का यह सूत्र प्रमाण है —

"तमपुष्पात्मात्मानमुविपारुमीत्येवं तावत्संप्रज्ञामीत ।"

उस अणु रट सब की अपेक्षा सूक्ष्म आत्मा को अनुभू के द्वारा जान लेने पर "अस्मि" अर्थात् "मैं हूँ" इस स्वयं को योगी समझ लेता है। इस प्रकार

1- विशोक ब्रह्मनन्दोद्रेकाच्छौक्तुःब्रह्मिना, ज्योतिष्मती ज्योतिष्मिबोधयुरा ।

भा. पृ. 101.

2- चित्तकतरंगरहिततत्त्वादसंकुचितप्रवृत्तिमत्त्वात् अतः शान्तमनन्तस्य अर्थात् तौमानान-

होर्न न तु वृहद्देशध्याप्तस्य । भा. पृ. 102.

स्मितासंविद्विषिणी, एवं अस्मितासंविद्विषिणी इति विधा विशेषा  
 व्योतिष्मती प्रवृत्ति की धारणा है चित्त स्थिर एवं सक्रम होता है ।

वीतराग योगियों के चित्त को भी धारणा का विषय बनाने से  
 साधक के चित्त को स्थितिलाभ होता है<sup>1</sup>। जो योगी राग द्वेष आदि दुर्बलताओं  
 के अर उठकर विरक्त हो गये हैं उनके चित्त की धारणा करने से जैसे ही  
 वैराग्य के अम साधक के चित्त में भी आते हैं । हिरण्यगर्भ, शुक्र, समक इ  
 ऐसे ही वीतराग योगी हैं जिनके चित्त में धारणा करने से योगी स्थितिलाभ  
 कर सकता है ।

निद्रा एवं स्वप्न के ज्ञान को आलंबन बनाने से भी चित्त स्थितिलाभ  
 करता है<sup>2</sup> । आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार स्वप्नावस्था में मानसिक  
 अर्थात् काल्पनिक ज्ञान प्रत्यक्ष होता है एवं बाह्य ज्ञान पूर्णतया निरुद्ध हो  
 जाता है । इस प्रकार के काल्पनिक एवं मनस ज्ञान को आलंबन बनाने से चित्त  
 को स्थितिलाभ होता है<sup>3</sup> । कल्पनाशील बालक एवं विशेष हिपेटिक स्वभाव  
 के व्यक्ति इस प्रकार बाह्य ज्ञान को निरुद्ध करके मनस ज्ञान पर धारणा कर  
 लेते हैं ।

स्वप्नावस्था में बाह्यज्ञान निरुद्ध होता है एवं मनस ज्ञान प्रत्यक्ष है ।  
 परन्तु निद्रावस्था में ये दोनों भी निरुद्ध हो जाते हैं । निद्रा में तमोगुणाधिक्य  
 के कारण केवल जड़ता का अनुभव होता है । अतः बाह्य अर्थात् यकार्य एवं  
 काल्पनिक दोनों के रुद्ध भाव का आलंबन ही निद्राज्ञानालंबन है । इससे भी  
 चित्त को स्थिरता प्राप्त होती है ।

1- वीतरागविषयं वा चित्तम् । योऽसौ 1-37.

2- स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा । 1-38 ।

3- अन्तः प्रकृतं वहीरुद्धं स्वप्ने ज्ञानं भवति भावित्तमर्तव्यविषयकम् तादृशवृत्तित-  
 विषयात्मकं चित्तं कुर्यात् तदभ्यासाद्य केषांचित् स्थितिर्भवति ।

किसी भी अभीष्ट विषय पर ध्यान करने से भी चित्त स्थिर होता है<sup>1</sup>। साधक को जिस पर भी श्रद्धा हो उस पर धारणा करने से स्थितिलाभ होता है। अभीष्ट विषय पर धारणा के अनन्तर क्रमशः वह साधक उच्चतर एवं उच्चतम तत्त्वों पर भी धारणा के योग्य हो जाता है।

उपर्युक्त परिकर्मों से परिष्कृत चित्त का वशीकार परमाणु पदार्थों से लेकर परममहत् पदार्थों तक हो जाता है<sup>2</sup>। तन्मान सद्गुरु सूक्ष्म एवं आकाश या अस्मिता तत्त्व सद्गुरु विशाल पदार्थों में साधक की अतिहित गतिभ्रता ही वशीकार है। यह वशीकार चित्त के परिकर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न होता है एवं चित्त को सक्रम कर सक्रम एवं स्थितिलाभ प्रदान करता है।

---

1- यथा भिमतभ्यानादा यो. सू. 1-39.

2- परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः । 1-40.

## वि विध समाधि

समाधियाँ चित्त को अनेक वृत्तियों का निरोध करने वाली होती हैं । यह समाधि भेद के आधार पर सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात इस प्रकार विविध होती हैं । राजस सर्व तागस वृत्तियों के निरोध होने पर पूर्णतः सात्त्विक वृत्ति की उदीयमान अवस्था ही सम्प्रज्ञात समाधि है । इस समाधि में चित्त को प्रकृति एवं पुरुष का विट्कान हो जाता है । इसमें कोई न कोई ध्येय आलंबन रहता है अतः इसे सालंबन समाधि कहते हैं । इसके पश्चात् अंतिक अवस्था यह है जबकि विश्वोद्देशी चित्त गुणों के प्रति भी विरक्त हो जाता है फलस्वरूप सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है । सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाने से चित्त में किसी भी प्रकार का ज्ञान शेष नहीं रह जाता है । अतः इस कारण इसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं । इस समाधि में ध्येय विषय का आलंबन नहीं लिया जाता है अतः यह निर्बीज समाधि भी कही जाती है । कर्तुतः यही समाधि योगियों का चरम लक्ष्य है एवं यही कल्याण की प्रदायिका है ।

सम्प्रज्ञात समाधि --

सम्यक् प्रज्ञायते अस्मिन्निति सम्प्रज्ञातः समाधिः ।

सम्प्रज्ञात समाधि सक्रमभूमिक चित्त में उत्पन्न होती है, सद्भूतार्थ का ज्ञान कराती है, क्लेशों को धीण कर देती है, कर्म के जंघनों को शिथिल कर देती है, तथा निरोध की ओर अभिसृष्ट कराती है<sup>1</sup> । यह तबीज समाधि है क्योंकि इसमें स्थूल अथा सूक्ष्म कोई न कोई ध्येय विषय अवश्य रहता है ।

---

1- यत्त्वेकत्रे घेतति सद्भूतमर्थं प्रयोत्यति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिसृष्टं करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते ।

यो. श. पृ. 12



सम्प्रज्ञात समाधि की विधि चार सोपानों के क्रम से होती है।

कुछ ध्येय विषय स्थूल एवं कुछ सूक्ष्म होते हैं। ज्ञान के सरल से कठिन की ओर इस सिद्धान्त के अनुसार योगाभ्यास में रत योगी पहले स्थूल विषयों को एवं फिर क्रम से सूक्ष्म विषयों को अपना ध्येय बनाता है। जिस प्रकार से बालक को प्रथमतः सरल विषयों में दीक्षित किया जाता है एवं उन सरल विषयों में उसकी बुद्धि परिपक्व हो जाने पर ही क्रमानुसार कठिन विषय सम्भलये जाते हैं। उसी प्रकार योगिजन भी स्थूल विषयों पर केन्द्रित ज्ञान के परिपक्व हो जाने के उपरान्त क्रमशः सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर विषयों को आलम्बन बनाने के लिए अग्रसर होते हैं।

चित्तर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि —

आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार चित्त में स्थूल विषय के आभोग अर्थात् परिपूर्णता को चित्तर्क कहते हैं<sup>2</sup>। वाचस्पति मिश्र के अनुसार चित्त का आलम्बन के आकार से आकारित हो जाना ही आभोग है<sup>3</sup>। विश्वानभिषु चित्तर्क को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विशेष रूप से ज्ञान अथवा निश्चय ही चित्तर्क है एवं इस चित्तर्क से युक्त निरोध ही चित्तर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है<sup>4</sup>।

घट पटादि ये सब स्थूल विषय हैं। वस्तुतः साधारण इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य सभी विषय स्थूल हैं। चित्तर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का विषय इन्द्रिय ग्राह्य स्थूल विषय होता है। इस ध्यान के फलस्वरूप चित्त उस विषय से तदाकाराकारित हो जाता है। इस तदाकाराकारिता

1- चित्तर्कविचारानन्दाभित्तानुगमात्स्वप्रज्ञातः ।

2- चित्तस्वयालम्बने ध्येयविषये वःस्थूल आभोगःसाक्षात्प्रशया परिपूर्णता त चित्तर्कः । भा. पृ. 51.

3- स्वल्पसाक्षात्कारवती प्रज्ञा आभोगः । स0पृ0 51.

4- विशेषतः तर्कमच्छीरणं चित्तर्कतेनानुगतो युक्तो निरोधो चित्तर्कानुगतनामा योग इति भावः । यो. वा. पृ. 52

से जो चित्तवृत्ति बनती है— वह चित्तकीन्तयी वृत्ति कहलाती है। आचार्य के अनुसार तो वह स्थूल विषयों को आलम्बन बनाकर उत्पन्न तथा निरस्त तदजन्य प्रज्ञा जब चित्त में सर्वदा रहती है तब वह चित्तानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है<sup>1</sup>।

चित्तानुगत सम्प्रज्ञात समाधि अन्य तीनों अर्थात् विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अहिम्तानुगत समाधियों से युक्त होती है। चित्तानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में स्थूल विषय का आभोग ही प्राधान्य होता है परन्तु गौणतया विचार, आनन्द एवं अहिम्ता के आभोग भी विद्यमान रहते हैं।

विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि— भारतीयों के अनुसार विचार ही ध्यान करने वालों की युक्ति है और इस विचार से सूक्ष्म अर्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार विचार से उत्पन्न सूक्ष्म विषय की प्रज्ञा से चित्त की परिपूर्णता ही विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है<sup>2</sup>।

सूक्ष्म विषयों में चित्त की तदाकाराकारित्व होना ही विचार है।

जिस प्रकार चित्तानुगत सम्प्रज्ञात समाधि अपने अन्तर सिद्ध होनेवाली अन्य तीन विचार, आनन्द एवं अहिम्ता इन समाधियों से युक्त होती है, उसी प्रकार विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि भी अपने पश्चात् अपने वाली आनन्द व अहिम्ता इन समाधियों से युक्त होती है। परन्तु इसमें स्थूल विषय चित्तानुगत सम्प्रज्ञात समाधि का पूर्णतया अभाव रहता है। विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में सूक्ष्म विषयों के आभोग का प्राधान्य रहता है। परन्तु आनन्द एवं अहिम्ता ये भी आभोग स्वल्पमात्रा में विद्यमान रहते हैं।

1- तत्र धीः स्थूलविकारविषया समाधिना प्रज्ञा यदा चेतसि स्तैव प्रतिष्ठिति यदा चित्तानुगतः सम्प्रज्ञातः । भा. पू. 52.

2- विचारो ध्यायिना युक्तिः सूक्ष्माधीयगमे यत इत्येवंत्वेन विचारेणाधिगत-सूक्ष्मविषयस्य प्रज्ञया चेतसः परिपूर्णता विचारानुगतः सम्प्रज्ञातः । भा. पू. 52.

### आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि—

इस समाधि में योगी को यह ज्ञान हो जाता है कि इन्द्रियाँ जो कि सदैव विषय व्यापार में रत रहती हैं, वही यदि शान्त अर्थात् विषय व्यापार से छिन्न हो जायें तो अधिक आनन्द उत्पन्न करती हैं। यह ज्ञान होने पर योगी सदैव हृदय को तत्त्व विषयों से विमुख कर शांत रखने का प्रयास करता है क्योंकि ऐसा करने में परम आनन्दानुभूति होती है। प्राणायाम, स्तृश, यौगिक उपायों से शरीर में बृहद् आनन्द का अनुभव होता है। उसी को आलंबन बनाकर ध्यान करते रहना ही आनन्दानुगत सम्प्रज्ञान समाधि है। इस प्रसंग में आचार्य मोक्षधर्म से उद्धरण देते हुए कि अभ्यास के द्वारा इन्द्रियों को विषयहीन करके मन में पिण्डीभूत करने से जब अत्यन्त सुख प्राप्त होती है वह लौकिक अथवा दैव अन्य किसी पुरुष से प्राप्त विषयोपशब्धि से नहीं हो सकती है। इस सुख से युक्त होकर ही योगी ध्यान और कर्म में रम्य करत हैं। विचारानुगत सम्प्रज्ञान के लिए अपरिहार्य विचारयुक्त ध्यान की भी आवश्यकता इसमें नहीं होती है। इसलिए यह चित्तकं सर्व विचार से रहित होती है<sup>2</sup>।

### अस्मिन्नानुगत सम्प्रज्ञात समाधि —

योगसूत्रानुसार भी गृहीता पुरुष के साथ बुद्धि की स्वस्मिता ही अस्मिता है। "दृग्दर्शनशक्त्योरेकारत्तेवास्मिता"। जिस प्रकार चित्तकं सर्वं विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि विषय से तथा आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि ग्रहण से सम्बन्धित होती है उसी प्रकार अस्मिन्नानुगत सम्प्रज्ञात समाधि गृहीता से सम्बन्धित होती है।

1- अत्र सूत्रेन्द्रियाणां स्थैर्यसहगतता त्पक्षकाशजात आनन्दः प्रकामलम्बिनी क्रियते, तत्प्रयान्तः करणस्थैर्यजातस्य हादस्यधिगमो भवति । भा. पू. ५५.

2- समग्यं सूक्ष्मसुखाहयहीनत्याद चित्तकं विचारचिक्लः । भा. पू. ५५.

आनन्दानुगत एवं अस्मिन्नुगत सम्प्रज्ञात समाधि का भेद भास्वती में अत्यन्त सुन्दर एवं सरल विधि से समझाया गया है। आचार्य के अनुसार इस अस्मिन्नुगत सम्प्रज्ञात समाधि में आनन्द का भी "में जाता अथवा ग्रहीता हूँ" इस प्रकार का अस्मिन्नात्म या "अहं" इस प्रकार की बुद्धिवृत्ति ही ध्यान का आलम्बन होती है। अर्थात् साक्षात् आनन्द का ग्रहण न होकर "में आनन्द का जाता हूँ" इस प्रकार का अहंप्रत्ययात्मक ज्ञान होता है। इसी दृष्टि से अस्मिन्नुगत सम्प्रज्ञात समाधि को आनन्द विकल कहा गया है<sup>2</sup>। आचार्य के मत में आनन्द विकल का अर्थ आनन्द से रहित नहीं है अपितु आनन्द से परे है। क्योंकि इसमें आनन्द ध्येयालम्बन न होकर आनन्द का ग्रहीता ध्यान का आलम्बन होता है। अतः यह आनन्दानुगत से उच्चतर स्थिति है। अहं प्रत्ययात्मक बोध पुरुष के द्वारा अभिव्यक्त होता है। आचार्य के अनुसार अस्मिन्नुगत सम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का आलम्बन अर्थात् ध्येय व्यापहारिक ग्रहीता अर्थात् महान आत्मा होता है। सांख्यदर्शन के अनुसार यह महत् है।

अस्मिन्नुगत सम्प्रज्ञात समाधि के अहं प्रत्ययात्मक ज्ञान को लेकर व्याख्याकारों में कुछ मतभेद स्पष्टतया परिलक्षित होता है। आरण्य इस प्रसंग में त्रिगुणभिक्षु एवं भोज से सहमत नहीं हैं। भोज के अनुसार अंतर्मुख होने के कारण प्रतिलोम परिणाम के द्वारा चित्त प्रकृति लीन होने से सत्तामात्र अवभासित होता है, एवं वही अस्मिन्ना है। परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि प्रकृतिलयत्व की दशा में सम्प्रज्ञात समाधि होती ही नहीं है। प्रकृतिलयत्व तो भावप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि का फल है। आरण्य वाचस्पति मिश्र की व्याख्या को उचित मानते हैं। "अहमस्मिन्" इस प्रकार का ज्ञान अथवा अन्तर्भाव ही

1- दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मोवास्मिन्ना । यो. सू. 2-6

2- चतुर्थे ध्यान आनन्दस्यापि "जाताअहम्" इत्यस्मिन्नात्मना संष्टिवालम्बनं तत्तत्तदानन्दादि विकल्पम् । भा. पू. 34.

बुद्धितत्व होता है<sup>1</sup>। सकल करण व्यापारों का ज्ञात अहमप्रवच्य ही है। सूक्ष्मज्ञान के लिए भी ज्ञात का अस्तित्व आवश्यक है। ज्ञान के निरोध से ज्ञेय ज्ञातत्व अथवा व्यावहारिक अहमभाव भी निरुद्ध हो जाता है। फलस्वरूप द्रष्टा की स्वल्प में स्थिति हो जाती है। अहंकार बुद्धि का विकार है अतएव अहंबोध स्व ज्ञान ही अहंकार है। शास्त्र भी "अभिमानो-अहंकारः" कहकर अभिमान को अहंकार का पर्यायवाची मानते हैं। अस्मिन्ना-नुगत सम्प्रज्ञात समाधि अस्मितारवल्प बुद्धि का साक्षात्कार है। इस समाधि में आत्मबन्ध स्वल्प द्रष्टा नहीं होता है क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधि में प्रकृति एवं पुरुष स्वल्पतः ध्यानात्मक नहीं होते हैं। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि का विषय विषय द्रष्टा अर्थात् अस्मिन् प्रत्यय व व्यावहारिक पुरुष ही होता है।

ये चारों सम्प्रज्ञात समाधियाँ आत्मबन्ध होती हैं क्योंकि इसमें चित्त-वृत्तियों का पूर्ण निरोध नहीं होता है। सात्त्विक वृत्ति प्रकृत्या उदयि-मान होने के कारण उसका आत्मबन्ध होना भी आवश्यक है। इसके विपरीत अज्ञानानुगत समाधि में सकल चित्तवृत्तियों का सम्पूर्णतया निरोध हो जाने के कारण आत्मबन्ध का अस्तित्व भी सम्भव हो जाता है। अतः इसे निरा-त्मक अथवा निर्बीज समाधि भी कहा जाता है।

अज्ञानानुगत समाधि -- परचैराग्य के सतत अभ्यास से निरोध संस्कारमात्र अवशिष्ट चित्त की समाधि अज्ञानानुगत समाधि कहलाती है<sup>2</sup>। विज्ञानभिक्षु के अनुसार सूत्रगत ४१-४८ "विरामप्रत्ययाम्यासपूर्वः" इस आपवाद से अज्ञानानुगत समाधि का अर्थ बताया गया है। "संस्कारशेषः" इस पद के

1- सा चात्मना ग्राहीना सहबुद्धिरेकात्मिका संविदिति, तस्यां च ग्राहीतुरन्तर्भावाद्-  
भवति ग्राहीतुविध्यः सम्प्रज्ञात इति। त० घ. पृ. 54.

2- विरामप्रत्ययाम्यासपूर्वः संस्कारशेषेऽन्यथ। यो. सू. 1-18.

द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि के स्वरूप का निर्देश किया गया है एवं अंतिम पद "अन्यः" के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि का कथन विवक्षित है<sup>1</sup>।

"विरामप्रत्ययाभ्यास" के विषय में आचार्य कहते हैं कि सत्क ज्ञान के साहित्य अर्थात् विराम के कारणीभूत वैराग्य का निरंतर अभ्यास करना ही विरामप्रत्ययाभ्यास<sup>2</sup> है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि असम्प्रज्ञात-समाधि की पूर्ववर्ती सम्प्रज्ञात समाधि में क्रम से सूक्ष्म तत्त्वों से प्रारम्भ करके अंत में अत्यन्त सूक्ष्म विषय अर्थात् अहं प्रत्यय पर धारणा की जाती है। यही प्रकृति एवं पुरुष का विविध ज्ञान अर्थात् विवेकख्याति है। विवेकख्याति के द्वारा साधक बुद्धि की सत्यगुणात्मकता, जड़ता, अगुदता, परिणामिता आदि दोषों को जान जाता है। पुरुष के अपरिणामी, शुद्ध अनन्त एवं चिन्मात्र स्वरूप का बोध हो जाने से साधक विवेकख्याति के प्रति भी विरक्त हो जाता है। यह परवैराग्य है। इस सर्वोच्च ज्ञान का भी त्याग कर देने से ज्ञान की कारणभूत बुद्धि का माध्यमत्व बंद हो जाता है एवं तब सम्पूर्ण चित्तवृत्तियाँ निरूढ हो जाने से चित्त अच्युत में लीन हो जाता है। यही द्रष्टा के स्वरूप में स्थिति है<sup>3</sup>।

असम्प्रज्ञात समाधि संस्कारशोभावस्था है। ऐसी अवस्था जिसमें ध्युत्थान संस्कार निरोध संस्कारों के द्वारा अभिभूत होने के कारण जन उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं, संस्कारशोभावस्था कहलाती है<sup>4</sup>। अर्थात् चित्त में केवल

1- तथा चात्र विशेषणो नोपायकथनं अथेन तद्व्युत्थानमन्त्येन तद्व्युत्थानमन्यो असम्प्रज्ञात

इति धः यो. श. पृ. 55

2- सर्वप्रत्ययहीनतायाः प्रत्ययः कारणं परं वैराग्यं तस्याभ्यासः पूर्वः प्रथमो यस्य सः -- भा. पृ. 55

3- तदा द्रष्टुः स्वल्पेऽवस्थानम् । यो. सू. 1-3.

4- संस्काराः न च प्रत्यया यत्राव्यक्तत्वेणावशिष्टास्तत्त्वकाः समाधिरसम्प्रज्ञान ।

भा. पृ. 55

निरोध संस्कार ही अवशिष्ट रहे । अन्य किसी भी ज्ञान एवं तदुक्त संस्कारों का पूर्णतया अभाव हो । यह ज्ञानहीन अवस्था ही सर्वश्रेष्ठ स्थिति एवं असम्प्रज्ञात योग है । केवल वृत्तियों का निरोध ही योग नहीं है क्योंकि क्लेशोपशान्ति देने से भी चित्त का व्यापार बढ़ हो जाता है एवं हिस्टीरिया आदि कुछ मानसिक रोगों में भी चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । पर यह योग नहीं है । योग की जोड़ में आने वाला चित्तवृत्तिनिरोध सम्प्रज्ञानपूर्वक होता है ।

निरोध के स्वल्प को सुन्दर एवं सरल रूप में आरण्य ने विवेचित किया है । उनके अनुसार निरोध द्विविध है तर्भंग या संस्कारशोभ एवं शाश्वत अथवा संस्कारहीन । तर्भंग निरोध में केवल ज्ञान का निरोध होता है । इसमें ज्ञान संस्कार रूप में परिवर्तित हो जाता है । शाश्वत निरोध ही कथ्युक्त है । इसमें चित्त स्वकारण अव्यक्त में लीन हो जाता है । संस्कारों के सम्बन्ध में एक मनोरंजक एवं सुन्दर उदाहरण देते हुए आचार्य कहते हैं कि चित्त का संस्कारशोभ रूप में रहना उसकी अपरिदृष्ट अवस्था है । यह गुणों की सगतात्म्य अव्यक्तावस्था नहीं है । जलतुरंगों के साथ तुलना करके आचार्य विषय को अधिक स्पष्ट करते हैं । उनके अनुसार समतल जल गुणसाभ्यावस्था है, उसका ऊपरी भाग ज्ञान एवं उत समतल जल रेखा का निचला भाग संस्कार है । यह असम्प्रज्ञात सगताधि ध्येय विषय से रहित होती है । ध्येयाभाव्य परस्परार्थ के अभ्यास से चित्त जलरहित हो जाता है । इस कारण इसे "निर्बीज" सम्यधि भी कहते हैं । यहाँ पर निर्बीज शब्द के विभिन्न व्याख्याकारों ने विभिन्न अर्थ दिये हैं । वाचस्पति मिश्र के अनुसार निर्बीज का अर्थ क्लेशकर्मशाय त्पी बीजों से रहित है । चिदानन्द के अनुसार ज्ञानाज्ञानसंस्कारहीन

1- क्लेशरहितः कर्मशयो जात्यायुर्भोगा बीजं तस्मात्निर्गतं इति निर्बीजः ।

हे<sup>1</sup>। इस प्रसंग में आचार्य का मत ही सर्वथा ग्राह्य है। उनके अनुसार ध्येय विषय स्व आलंबन के अभाव के कारण ही यह निर्बीज समाधि है<sup>2</sup>। क्योंकि निरालम्बत्व ही इस समाधि की प्रमुख विशेषता है इस लिए सूत्रकार एवं भाष्यकार को निर्बीज का निरालम्बत्व यह अर्थ ही अभिमत होगा, ऐसी कल्पना की जा सकती है।

असम्भ्रान्त समाधि भी भ्रमप्रत्यय एवं उपाय प्रत्यय इस प्रकार द्विविध होती है। असम्भ्रान्त समाधि के द्वारा सर्ववृत्तिनिरोध होने पर साधक को साक्षात् कैवल्य प्राप्त होती है।

---

1- चिन्मूर्च्छय संस्कारस्य तत्कालानन्वयपर्यन्तथाशेषतो दाहा निर्बीजज्ञाना तस्वेति भाषः योऽ षाऽ षु 17.

2- ध्येयविषयस्य बीजयामावाद निरोधः समाधिनिर्बीज इत्युच्यते ।  
भा. पृ. 17.



## असम्प्रज्ञात योग साधना के अंग

असम्प्रज्ञात योग साधना स्वप्न के आधार पर दो प्रकार का होता है— भव प्रत्यय एवं उपाय प्रत्यय । विज्ञानभिक्षु के अनुसार भव का अर्थ है जन्म एवं प्रत्यय का अर्थ है कारण । अर्थात् भव प्रत्यय असम्प्रज्ञात योग का अर्थ है वह योग जो कि जन्म से ही हो अथवा जिसका कारण जन्म हो । भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात योग विदेह नामक देवताओं तथा प्रकृतिलीनों को ही होता है<sup>1</sup> ।

“भव” शब्द को लेकर टीकाकारों में मतभेद है । विज्ञानभिक्षु के अनुसार भव का अर्थ जन्म है । वाचस्पति मिश्र के मत में भव से तात्पर्य अधिधा से है । राजमतीण्डुलित्तिकार के अनुसार भव का अर्थ संसार है । देखा जाए तो ये सभी मत अंततः ही उचित हैं । परन्तु आचार्य के अनुसार वस्तुतः जन्म के ह्युत्सव अधिधा से उत्पन्न संस्कारों को ही भव मानना सबसे उचित प्रतीत होता है<sup>2</sup> । यह भवप्रत्यय समाधि के लिये लाभ नहीं करा पाती है अतः भोज के अनुसार यह केवल योगाभ्यास ही है<sup>3</sup> ।

भव को सम्झ लेने के पश्चात् विदेह एवं प्रकृतिलीन इन दशाओं का स्वप्नोत्पीकरण आवश्यक है । इस लिख्य में भी टीकाकारों में मतभेद नहीं है । वाचस्पति मिश्र के अनुसार इत तक इन्द्रियों में से किसी एक को आत्मस्वरूप जानकर उसकी उपासना के संस्कार द्वारा देहान्त के पश्चात् जो उपास्य में

1- भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलीनानाम् । योऽसू. 1-18

2- भवति जायवैजेनेति भवो जन्महेत्वः जैत्रा मन्वाः संस्काराः । —भा. पृ. 57-

3- तैश्च पतनत्वादर्शनायोगाभासोऽयम् ।

लीन होते हैं वे विदेह कहलाते हैं<sup>1</sup>।

भोज के मत में तानन्द समाधि में जो प्रधान एवं पुरुष तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाते वे देहाहंकार से शून्य होने के कारण विदेह कहलाते हैं। क्लानभिक्षु के अनुसार शरीर-विषय बहिर्वृत्ति से युक्त मत्तादि देवतार्थ विदेह हैं<sup>2</sup>। ये सभी व्याख्यान पूर्णतया गूढ नहीं हैं।

पूर्वाचार्यों के द्वारा इस विषय का उचित स्पष्टीकरण न किये जाने के कारण आचार्य हरिहरानन्द आरण्य ने विस्तार से विदेह एवं प्रकृतिलीन आस्थाओं का वर्णन किया है। वाचस्पति मिश्र ने उपास्य भूत अथवा इन्द्रियों में लीन को विदेह कहा है जो कि अनुचित है क्योंकि भूतादि में लीन चित्त क्षी भी निर्बीज नहीं हो सकता अतः आत्मप्रकाश योग की स्थिति आम्भ है। परन्तु लीन एवं भाष्य दोनों के ही द्वारा विदेहों को निर्बीज समाधि का उल्लेख किया गया है। आचार्य अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए विदेह का स्वस्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि स्थूल ग्रहण में समापन्न योगी विषय त्याग से आनन्द प्राप्त करके विषय त्यागों को ही परम पद मान लेता है तथा शब्दादि प्राप्य विषय से विरक्त होकर उनको निरोध करता है। इस दशा में विषययोग का अभाव होने के कारण करण वर्ग विलीन हो जाता है, क्योंकि विषयों के बिना करण एक क्षण भी नहीं रह जाते। ये कौशाहीन संस्कारसंघ्य करके देहान्त में विलीनकरण होकर निर्बीज समाधि को प्राप्त करते हैं और संस्कार बल के अनुसार सक्रिय काल तक कैवल्यवस्था

1- भूतन्द्रियाणां प्रयत्नमात्मेन प्रतिपन्नास्तदुपासनात् तदासनायासिताभ्यः करणाः पिण्डमातानन्तरमिन्द्रियेषु भूतेषु वा लीनाः संस्कारगत्रावशोऽभ्यन्तः भाटकौशिक शरीररहिता विदेहाः। तपसो पृ० 58.

2- मत्तो बहिर्वृत्तिः सः शरीर इव बहिर्वस्तुन्यति मत्ताप्रतिष्ठा भाष्यतद्वृत्ती बहिर्वृत्तिः कल्पिता वा-अकल्पिता च भवतिः। यो. वा. पृ. 362.

अनुभव करते हैं। वे ही विदेह होते हैं<sup>1</sup>। विदेहावस्था का उचित तथा युधि संगत दिग्दर्शन कराने का श्रेय आचार्य को ही है।

प्रवृत्ति लीनावस्था का उल्लेख सांड्यकारिका में करते हुए ईश्वरकृष्ण ने कहा है कि वैराग्य से युक्त तथा पुरुषतत्त्व के ज्ञान से रक्षित व्यक्ति को प्रकृतिलय प्राप्त होता है<sup>2</sup>। तत्त्वकोमुदीकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार "प्रकृति" शब्द के ग्रहण से प्रकृति, महत्त्व, अहंकार, पृथिवी इत्यादि भूत एवं इन्द्रियों का ग्रहण किया गया है। आत्मग सम्भ कर इनकी उपासना करने पर उपासक का इन्हीं में लय हो जाता है एवं कालान्तर में पुनः उत्पत्ति होती है<sup>3</sup>। आरण्य के अनुसार योगसूत्र में प्रकृतिलीन से तात्पर्य प्रधान अथवा मूला प्रकृति से ही है। भूतेन्द्रियादि से नहीं। क्योंकि अस्मिन्नात् समाधि में शक्ति चित्त प्रकृति में ही लीन होता है। आरण्य प्रकृतिलयत्व का विवेचन करते हुए कहते हैं कि जब तत्त्व ज्ञानहीन, शून्यवत् समाप्ति लाभ होता है परन्तु पुरुषत्व के साक्षात्कार न करने पर उसे ही परम गति समझ कर और अन्तर्मुख हो कर वैराग्य के द्वारा साधिकार चित्त प्रकृति में लीन हो जाय, वही प्रकृति लीनत्व है<sup>4</sup>।

- 
- 1- सूक्तसूक्ष्मादीरं, तद्विना विदेहा ये तु पुरुषध्यातिहीनाः किन्तु दोषदर्शना देहधारणे विरागवन्तस्ते तद्वैराग्येण तद्विषये च समाधिना सर्वकरणकार्य- निरुन्धन्ति, कार्याभावात् करणशक्तयो न स्थातुमुत्सहन्ते, तस्मात् ताः प्रकृतौ लीयन्ते स्वेभ्यमधिकान्भूतेन स्थूलसूक्ष्मदेहेन सह च संयुज्यन्तिः भा. पू.
  - 2- वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो मयति राज्ञाप्रागाह । ऐश्वर्याद विधातो, विषयात् तद्विपर्यासः । तां. का. 45.
  - 3- प्रकृतिग्रहणेन प्रकृतिमहदहंकारभूतेन्द्रियाणि गृह्यन्तेः तद्वि. पू. 287.
  - 4- ये तु पुरुषध्यातिहीनाः किन्तु दोषदर्शनात् देहधारणे विरागवन्तस्ते तद्वैराग्येण तद्विषये च समाधिना सर्वकरणकार्य-निरुन्धन्तिः भा.

प्रकृतिलीन एवं च्छिदों में भी कुछ अन्तर है । प्रकृतिलीन अव्यक्त प्रकृति को सर्वोच्च उपास्य मान कर देहान्त के पश्चात् उसी में लीन हो जाते हैं । च्छिद स्फुटेद्वधारी तो नहीं होते हैं परन्तु लिंग शरीरधारी अवश्य होते हैं । प्रकृतिलीन सावरण ब्रह्माण्ड से बहिर्मुख तथा च्छिद सावरण, प्रकाण्ड में अन्तर्भूत होते हैं । ऐश्वर्य की दृष्टि से भी प्रकृतिलीन च्छिदों से कहीं अधिक ऐश्वर्यशाली होते हैं<sup>1</sup> ।

विवेकव्याप्ति की सिद्धि हो जाने पर चित्त चरिताधिकार ही जाता है । च्छिद एवं प्रकृतिलीन सर्ववृत्तिशून्य एवं अपने संस्कारमात्र के द्वारा चित्त के द्वारा कैवल्यपद का-सा अनुभव करते हुए उस प्रकार के अपने संस्कारों के फलों को भोगते हैं । फलभोग पूर्ण होने पर उसी प्रकार से जबतक कैवल्य का अनुभव करते रहते हैं । जबतक कि उनका चित्त चरिताधिकार न होने के कारण पुनः संसार में प्रादुर्भूत नहीं हो जाता है ।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि च्छिद एवं प्रकृतिलीन जिस कैवल्य पद का अनुभव करते हैं उसमें एवं वास्तविक कैवल्य में अन्तर है । दोनों की अवस्थाओं में समता यह है कि दोनों में ही चित्तवृत्तिहीन रहता है । तैरूप्य यह है कि प्रकृतिलीन एवं च्छिद के कैवल्य अनुभव में चित्त साधिकार रहता है जबकि वास्तविक कैवल्य में चित्त साधिकार संस्कारों से सर्वथा हीन होता है<sup>2</sup> ।

इस प्रकार से च्छिदों एवं प्रकृतिलीनों को भ्रमरतथ्य अज्ञानज्ञात समाधि होती है । इसके विपरीत योगियों की अज्ञानज्ञात समाधि उपाय

1- च्छिदास्तु सावरण ब्रह्माण्डान्तर्गता इति भेदस्ते च मलिना त्वैश्वर्यमोगाः,  
प्रकृतित्वास्तु तेषामपीशाः स्वसंकल्पमात्रनिर्मितसत्त्वस्थान निर्मलविध्यभोगास्त  
इत्येवकोट्य उच्यते । —भा. सू. सू. पृ. 20.

2- अज्ञानिकत्वं कैवल्येन सात्त्विकं साधिकारसंस्कारशोधता च कैवल्यम् । तत्. ध. पृ. 58

प्रत्यय होती है<sup>1</sup>। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा इन सब उपायों से उपाय प्रत्यय असम्प्राप्त समाधि योगियों की होती है<sup>2</sup>। श्रद्धायुक्त चित्त-वाला योगी ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है<sup>3</sup>। अतः सबसे पहले श्रद्धा को ही रक्षण दिया गया है। चित्त का संप्रसाद अथवा अभिख्यात्मक वृत्ति ही श्रद्धा है<sup>4</sup>। यह कल्याणदात्री माता के समान योगी की योगकण्ठकों से रक्षा करती है। चित्त में श्रद्धा होने पर योगी उत्साहयुक्त हो जाता है। इस उत्साह के द्वारा योगी अपने चित्त को समाधि से व्यक्तिरिक्ति विषयों की ओर से पराभूत रहता है। इस उत्साह के कारण योगी एक विषय पर अपना ध्यान केन्द्रित कर पाता है। विक स्मृति ही सर्वोत्तम ध्यान एवं साधन है।

चित्तस्मृति साधन में अन्य विषयों एवं संकल्पों का प्रवेश निषिद्ध करके एकमात्र ध्येय विषय के ध्यान का अनुध्ववसाय करता है<sup>5</sup>। वस्तुतः यही सर्वोच्च स्मृति साधन है। बौद्धदर्शन में भी स्मृति के महात्म्य को स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार भी स्मृति एवं संप्रबन्ध के बिना चित्त का निरोध नहीं हो सकता है। शरीर एवं चित्त की जैसी अवस्था होती है उसकी प्रतिक्षण प्रत्यवेक्षा ही संप्रबन्ध है<sup>6</sup>। स्मृति एकाग्र एवं अविलोल होने

1- उपायप्रत्ययो योगिनां भवति । यो. भाष्य. पृ. 60

2- श्रद्धावीर्यस्मृतिस्माधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् । यो. सू. 1-20.

3- श्रद्धावात्र लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः । भगवद्गीता ।

4- श्रद्धाअ- चित्तैविष्ये भ्रतःसम्प्रसादः अभिचिन्ती बुद्धिः । भा. पृ. 60.

5- पश्यन्नुदासीन्द्रशा प्रपद्यं संकल्पमुन्नमूल्य साधनः । योगतारावली ।

6- सदेव समासेन संप्रबन्धस्य लक्षणम् ।

यत्काय चिन्ताक् कयाःप्रत्यवेक्षा उद्गुहः । बोधिययचितार 5-109.

पर समाधि लाभ होता है। समाधि लाभ से प्रज्ञा उत्पन्न होती है एवं फलस्वरूप पदार्थों का यथार्थ ज्ञान योगिजनों को होता है। तद्भूतार्थों के ज्ञान से अर्थात् प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान होने से कैवल्य की प्राप्ति होती है। श्रुति के अनुसार भी यही कैवल्य मार्ग के क्रमिक सोपान हैं<sup>1</sup>। धर्मद में भगवान् बुद्ध ने भी प्रतिपादित किया है कि शील, श्रद्धा, धीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा इन षड् उपायों के द्वारा सम्पूर्ण दुःखों का नाश होता है।

इन षडावींशति उपायों के बारम्बार अभ्यास से यह दृढ़भूमिक सर्तिका विवेक्याति हो जाती है<sup>2</sup>। इस अवस्था में प्रारब्ध व्यतिरिक्त सम्पूर्ण कर्मसंसार दग्धबीज हो जाते हैं। इसी की चरम गति अर्थात् ज्ञान ग्लभीहित्य ही धर्मद समाधि है।

सत्यगुणात्मक विवेक्याति से भी जब योगी विरक्त हो जाता है तब वह परवैराग्य की स्थिति होती है। परवैराग्य के द्वारा असम्भूत समाधि की सिद्धि स्वाभाविकरूपेण हो जाती है<sup>3</sup>।

इस प्रकार से विवेह एवं प्रकृतिलीन भवप्रत्यय एवं अय योगिजन उपाय प्रत्यय के द्वारा असम्भूत योग की स्थिति तक पहुँचते हैं।

1- नायभात्मा ब्रह्मीनेन लभ्यो न च प्रमदात्मसो वाप्यलिंगात् ।

सतेस्पायेर्यतते यस्तु विद्वान्स्त्वये। आत्मा विधाते ब्रह्मधाम । गुण्डकोपनिषद् 3-4.

2- स तु दीर्घकाले रन्तर्यसान्धराते पितो दृढ़भूमिः । यो. सू. 1-14

3- तत्परं पुरुषध्यातेरुष्णघेतुष्यसु । यो. सू. 1-16

## समापत्ति

एकाग्र भूमि में स्थित अर्थात् स्थितिप्राप्त चित्त की धेयाकार में परिपूर्णता ही समापत्ति है। समापत्ति के स्वल्प जो स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने स्फटिक मणि का दृष्टान्त दिया है<sup>1</sup>। सूत्रकार के अनुसार राज्ञ सर्वं नाम्न सृष्टियों के क्षीण हो जाने पर स्फटिक मणि के समान निर्मल चित्त को ग्राह्य, ग्रहण अथवा ग्रहीत विषयों में एकाग्र स्थिति प्राप्त कर तदाकाराकारित हो जाना ही समापत्ति है<sup>2</sup>। स्वच्छ स्फटिक मणि के सम्मुख जो भी विविध रंग रख जायें, वह मणि भी उसी रंग का प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार चित्त भी जिस ध्येय को आलोक बनाए, उसी के आकार में पूर्णतः आकारित हो जाता है। सम्पूर्णतया चित्त का धेयाकाराकारित हो जाना ही समापत्ति है।

आरण्य के अनुसार ईश्वर प्रणिधान आदि साधनों के अभ्यास के द्वारा चित्त की अभीष्ट ध्येय पर निश्चल सर्वं एकाग्र स्थिति ही चित्त की स्थितिप्राप्ति है। इस स्थितिप्राप्त चित्त की समाधि को ही समापत्ति कहते हैं। आचार्य के अनुसार शुद्ध समाधि से समापत्ति का यही भेद है<sup>3</sup>। दूसरे शब्दों में समाधि तो चित्त का सार्वभौम अर्थात् क्षिप्त हि सभी भूमियों में रहने वाला धर्म है परन्तु केवल एकाग्र भूमिक समाधि ही समापत्ति की कोटि में आती है।

विषयभेद से समापत्ति ग्राह्यविषयक, ग्रहण विषयक एवं ग्रहीतविषयक

1- अभिजात्यवच्छस्य भणेरिव । भा. पू. 107.

2- क्षीणवृत्तरमिजातस्यैव मणोग्रहीतुग्रहणग्राह्येषु । तत्स्थितद्वन्द्वता समापत्तिः ।  
यो. सू. 1-41.

3- द्रष्टव्य मातृयोऽ दर्शन । हरिः ७७० । ५० ८५.

इस प्रकार त्रिविध है। ग्राह्य, ग्रहण और गृहीत में ही सकल व्यक्त भाव पदार्थ अन्तर्मुख हो जाते हैं। प्रकृति के भेद से समापत्ति सचितर्का, निचितर्का, सविचारा एवं निविचारा इस प्रकार चतुर्विध है। सचितर्कादि समापत्तियों को ग्राह्य ग्रहण गृहीत के उपभेदों सहित वाचस्पति मिश्र ने आठ प्रकारों में विभक्त किया है। राघवानन्द सरस्वती एवं रामानन्दयति 'मण्डिमा' भी वाचस्पति मिश्र के मतानुसार समापत्तियों के आठ भेद मानते हैं। आचार्य एवं अन्य व्याख्याकारों के अनुसार चार भेद ही मान्य हैं।

आचार्य के अनुसार ग्राह्य को आलंबन बनाने वाली समापत्ति द्विधा है। प्रथम सूक्ष्मभूत अथवा शब्दादि तन्मात्राओं को विषय बनाने वाली एवं द्वितीय पंचमहाभूतों को आलंबनविषय बनाने वाली। दूसरी प्रकार की समापत्ति के ही अन्तर्गत अर्थात् सूक्ष्म तत्त्वों में ही विश्वभेद से अर्थात् भौतिक पदार्थ स्वर्ग, पृथ्वी पदादि असंख्य पदार्थ आते हैं<sup>1</sup>। अर्थात् जब भूतसूक्ष्म, पंचमहाभूत अथवा पद पदादि असंख्य ग्राह्य विषयों के आलंबन से उपरक्त चित्त आह्वयकार होकर ग्राह्य स्वस्व के आकार का प्रतिबोधित होता है तो वह ग्राह्यविषयक समापत्ति होती है। समापत्ति की प्रकृति के भेद से जब चित्त सूक्ष्म तत्त्वों के आलंबन से तदाकाराकारित होता है तब वह समापत्ति सचितर्का एवं जब सूक्ष्म तत्त्वों से तदाकाराकारित हो तब सविचारा सम्भ्रजात समाधि होती है<sup>2</sup>।

1- ग्राह्यालंबनं द्विधा-भूतसूक्ष्मं तन्मात्राणि तथा सूक्ष्मं पंचमहाभूतानि, सूक्ष्मतत्त्वान्तर्गतो विश्वभेदो घट्यत्वादिभौतिककृतान्तरिषयः।

2- तदनेन चित्तकविद्याबद्धत्वात् सभाषी दलितौ। तदेषु पृष्ठे 108.



इसी प्रकार ग्रहण अर्थात् इन्द्रियों के आलंबन से उपरक्त चित्त इन्द्रियालम्बनाकाराकारित होकर जब इन्द्रियस्याकार-ता प्रतीत होता है तो वह ग्रहण विध्यक समापत्ति होती है। ग्रहण के सम्बन्ध में आचार्य का कहना है कि ग्रहण से तात्पर्य चक्षुर्गोलक अथवा कर्णशाकुली इत्यादि नहीं है परन्तु इन्द्रियों में स्थित उनकी शक्तियों से है। क्योंकि चक्षुर्गोलक इत्यादि ध्येय आलंबन तो ग्राह्य विध्य हैं, वे ग्रहण के अन्तर्गत नहीं आते। अतः इन्द्रिय शक्ति को ही आलंबन बनाकर उससे उपरक्त चित्त जब आलंबनकारा-कारित हो जाए तब वह ग्रहण विध्यक समापत्ति होती है। यह ग्रहण विध्यक समापत्ति वाली सम्प्रज्ञात समाधि "आनन्दानुगत" है।

इसी प्रकार जब ग्रहीता पुरुष अर्थात् अस्मिता स्वी आलंबन से उपरक्त चित्त गृहीतुपुरुषाकार होकर ग्रहीता पुरुष के स्वत्व से आकार का प्रतिमसित होता है तब वह ग्रहीतुविध्यक समापत्ति होती है। पुरुष एवं बुद्धि इन दोनों के वस्तुतः भिन्न होने पर भी एकत्वता का अभिमान होना ही अस्मिता है। आरण्य के अनुसार इस गृहीतुविध्यक समापत्ति का ग्रहीता, स्वस्वरूप-या पुरुषत्व नहीं है प्रत्युत बुद्धितत्व है। बुद्धि एवं पुरुष की एकत्वबुद्धि होने के कारण वह व्यापहारिक द्रव्य अथवा ग्रहीता है। इस स्थिति में सात्त्विक वृत्ति के उत्कर्षात् उदीयमान होने के कारण चित्त पूर्णतः लीन नहीं होता है परन्तु पुरुष का साक्षात्कार नहीं होता है। वृत्तिसारम्य की स्थिति में "ज्ञानमहं जानानि" इस तत्त्व का अविदुद द्रव्यभाव ही व्यापहारिक द्रव्य है। आचार्य के अनुसार इससे उच्चतर स्थिति अर्थात् पुरुष की स्वस्वत्व में स्थिति ज्ञान के सम्यक् निरोध के उपरान्त उपलब्ध होती है।

1- न त्विन्द्रियाणां गोलका ग्रहणविध्यात्ते हि स्थूलभूतान्तर्गता एव इन्द्रियशक्तय एव ग्रहणम् । भा. पृ. 108.

2- ग्रहीतापुरुषाकारा बुद्धिर्ज्ञानात्मा, त या तिम तिमत्रबोधे ज्ञातृत्व-वृत्त्यर्हत्त्वबुद्धे रात्रो मूल सर्वचित्तव्यापारस्य द्रव्यरूपसहस्रव्याप्त त ग्रहीतापुरुष इत्यप्येते । भा. पृ. 109.

संक्षिप्त में निश्चित मणि के समान चित्त की ग्राह्यता, ग्रहण एवं ग्रहीता में जो तत्त्वत्तज्जनता अर्थात् उनमें तदाकाराकारिता है, उसी को समपत्ति कहते हैं<sup>1</sup>।

प्रकृति भेद से सभापत्ति के भेदों में सर्वप्रथम सचित्तका समपत्ति परिगणित की जाती है। सुनकर के अनुसार शब्द, अर्थ और उसके ज्ञान इन त्रयो मिश्रित समपत्ति सचित्तका है<sup>2</sup>। वस्तुतः शब्द, अर्थ एवं ज्ञान ये तीनों ही सर्वथा भिन्न हैं परन्तु इन तीनों में अभेद की विकल्पात्मक वृत्ति साधारणतया सभी को होती है। शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प को सरल शब्दों में समझते हुए आचार्य कहते हैं कि गो यह शब्द कर्णोन्द्रिय से ग्राह्य एवं वागेन्द्रिय में स्थित है अर्थात् गो शब्द यह वाक्य से बौद्ध और ज्ञान से सुना जाता है। गो यह अर्थ प्रक्षु और त्वया से ग्राह्य है अर्थात् आँखों से देखा और हाथ से स्पर्श किया जा सकता है। तथा यह गोष्ठ में स्थित है। गो यह ज्ञान चित्त में स्थित रहता है<sup>3</sup>। अतः गो शब्द, गो अर्थ, एवं गो ज्ञान ये तीनों सर्वथा भिन्न हैं फिर भी विकल्प से इन तीनों में अभेद की प्रतीति होती है। साधारणतया चिन्तन शब्दाकार-विकल्प से संकीर्ण ही रहता है। विकल्प से संकीर्ण रहने के कारण यह चिन्तन योग की उच्चभूमियों के लक्ष्य में सहायक नहीं होता है। गो विषय में समपन्न चित्तवाले योगी को गो-सम्बन्धी समाधि प्रज्ञा उत्पन्न होती है जिसका स्वरूप इस प्रकार होता है — यह भेरी गाय है, द्वाका रंग सफेद है इत्यादि। यह प्रज्ञा शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित रहने के कारण सचित्तका समपत्ति कहलाती है। वस्तुतः योगी समपत्ति के लिए गणादि सामान्य विषयों को आलम्बन नहीं बनाते हैं, प्रत्युत उनके आलम्बन

1- तदेवा भिषातमणि कल्पस्य घेतसो ग्रहीतुमहृणाहयेषु : यो. भा. सू. 1-41  
 2- शब्दार्थ ज्ञानिषकल्पेः संकीर्णं सचित्तका समपत्तिः यो. सू. 1-42  
 3- गौरिति शब्दः कर्णग्राह्यो वा गिन्द्रिय स्थितः गौरित्यर्थः चक्षुस्त्वगिन्द्रिय-ग्राह्यो गोष्ठदो स्थितः गौरित्वात् घेतसि । भा. पृ. 109

सदैव तत्त्वविषयक होते हैं। आचार्य के अनुसार स्थूल विषयों में चित्त का शाब्दात्मकान के विकृत्य से संकीर्ण होकर तदाकाराकारित होना ही सचित्तर्क समापत्ति है<sup>1</sup>।

स्मृति की परिशुद्धि हो जाने पर अपने ज्ञानात्मक रूप से शुद्ध्य ज्ञानी केवल अर्थ को ही प्रकाशित करने वाली निमित्तर्क समापत्ति होती है<sup>2</sup>। यह परमप्रत्यक्ष है। यही जागम और अनुमान का बीजभूत कारण है इसी से पदार्थों का प्रत्यक्ष करके जागम और अनुमान उत्पन्न होते हैं<sup>3</sup>। निमित्तर्क समापत्ति का स्पष्ट रूप से विवेचन करते हुए आरण्य कहते हैं कि साधारण-तथा हरे शाब्दात्मकान के साथ अर्थ और अर्थान के साथ शाब्द का स्मरण होता है। क्योंकि शाब्द और अर्थ का साहचर्य सम्बन्ध हमारे मन में सदैव रहता है। अतः दोनों भिन्न होते हुए भी साहचर्य संस्कार के कारण दोनों का स्मृति सांकर्य होता है। यदि शाब्द को चिन्तित कर केवल अर्थमान का चिन्तन किया जाये तो स्मृति सांकर्य समाप्त हो जाता है। तत्र अभ्यास के द्वारा शाब्द के बिना भी अर्थ का ध्यान संभव हो जाता है। शाब्द के बिना अर्थ का ध्यान ही स्मृति परिशुद्धि है।

5 आरण्य के अनुसार शाब्द के आश्रय के बिना जो ज्ञान होता है वही यथार्थ ज्ञान है। श्रुतानुमानजनित ज्ञान तथा शाब्द पर आश्रित ज्ञान विकल्प-युक्त होने के कारण श्रुत ५ परसेष्युजल फेक्ट ५ नहीं होता है प्रत्युत शाब्दाश्रय शून्य केवल अर्थमान रूप में प्रकाशित होने वाला ज्ञान ही श्रुत ज्ञान होता है। स्मृत आश्रयी निमित्तर्क समापत्ति का विषय बनाता है। इस सम्बन्ध में वेनाशित्तर्क बोधों का मत कि बहय पदार्थ श्रुतः शून्य एवं अस्त होते हैं,

1- स्थूलविषयेदृशया प्रकृया परिपूर्णस्य चेतसो वा समापन्नता ता सचित्तर्केति भा. पृ. 111.

2- स्मृतिपरिशुद्धौ स्वस्वशून्ये काश्चिन्ननिर्माता निमित्तर्क । यो. सू. 1-43.

3- तत्परं प्रत्यक्षम् । तस्य श्रुतानुमानयोर्बीजम् । ततःश्रुतानुमाने प्रभवतः यो. भा. सू. 1-43.

असंगत सिद्ध होते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो जो पदार्थ उपलब्ध होते हैं उन सब में अव्ययीपन की गंध है, अतः अव्ययी अवश्य होता है जो कि बड़े या छोटे इत्यादि रूपों से व्यवहृत होता है और यही निर्वितर्क समापत्ति का विषय बनता है<sup>1</sup>।

आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार समाधि की ज्यों की त्यों प्रतिमूर्त्तिप अक्षया की निर्वितर्कता है और समाधिजन को भाषा के द्वारा अनुभव करना सवितर्क है<sup>2</sup>। स्थूल विषयों का चरम सत्यज्ञान निर्वितर्क समापत्ति में होता है, क्योंकि चित्त की सम्याकृत्या स्थिर कर तथा सभी विकल्पों से रहित गान ही निर्वितर्क समापत्ति में उपलब्ध होता है।

जिस प्रकार स्थूल विषयों को ध्येय बनाने वाली समापत्ति सवितर्क एवं निर्वितर्क होती है उसी प्रकार सूक्ष्म विषयों को ध्यानालंकार बनाने वाली समापत्ति व विचारा और निर्विचारा कहलाती है। उनमें से आभिव्यक्त हुए धर्मों वाले तथा देश, काल और निमित्त के ज्ञान से विभक्त अक्षुब्धों में जो समापत्ति होती है, वही सविचारा समापत्ति है<sup>3</sup>। शान्त, उदित तथा अध्यष्टेश्य, इस धर्म-स्य के द्वारा अस्मां छिन्न सर्वधर्म-रुपाती सर्वधर्म-तमक एवं सर्वतः इस प्रकार की समापत्ति निर्विचारा है<sup>4</sup>। जिस प्रकार स्थूल-ध्येय विषय में शब्द संज्ञादि का विकल्प अथवा विकल्पहीन व सवितर्क एवं निर्वितर्क समापत्तियों का नियामक है उसी प्रकार सूक्ष्म ध्येयविषय में देशदि के अनुभव का मिश्रण अथवा अमिश्रण सविचारा और निर्विचारा का विभावक है। सविचारा और निर्विचारा में विचार शब्द का अर्थ भाष्यकार के अनुसार सूक्ष्म विषय आभोग ही है। सविचारा में देश विशेष से अवधिन्ना

1- यत्तदुपलभ्यते तत्तद्व्यापित्वेनाप्रातस्तत्मादस्यव्ययी यो महत्त्वादिव्यवाहारापन्नः समापत्तिनिर्वितर्कतायाः विषयो भवति । यो. भा. 1-43.

2- पातञ्जलयोगदर्शन ४ हरिआ० १ पृ. 91

3- तत्र अक्षुब्ध मोक्षवा भिव्यक्त धर्मैश्च देशकालनिमित्तानुभावावधिन्नेषु, या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते । यो. भा. सू. 1-44

4- या पुनः सर्वत्र सर्वतः शान्तोदितव्यष्टेश्यधर्मनिवृत्तिः यो. भा. सू. 1-44

विषयक ज्ञान होता है। परन्तु निर्विचारा में ज्ञान सादृश्य विधेय होता है। उसी प्रकार वर्तमान काल में उचित ज्ञान के द्वारा अविच्छिन्न न होकर भूतकाल, भविष्यकाल एवं वर्तमान इन तीन अवस्थाओं के क्रम के बिना ही ज्ञान होता है। इसी प्रकार सदिचारा समापत्ति में सदृश किसी एक धर्मस्थ निमित्त विशेष के द्वारा अविच्छिन्न न होकर प्रज्ञा साक्षात्कृत होती है। सूक्ष्म विषय के जितने भी परिणाम हो सकते हैं उन सब धर्मों में अतिशुद्ध शक्ति वाली प्रज्ञा ही सर्वांगीण होती कहलाती है<sup>1</sup>।

आचार्य ने समापत्ति में चारों प्रकारों को सूर्य का दृष्टान्त देकर अत्यन्त सरलता से समझाया है। आचार्य के अनुसार जब सवितर्क समापत्ति में सूर्य को आलंबन बनाया जाए तो सूर्य सम्बन्ध सब ज्ञान यथा आकार, दूरी, उपादान आदि जात होता है। सूर्य गोल है आदि शब्दादि से संकीर्ण ज्ञान अर्थात् विकल्पात्मक ज्ञान होने के कारण जब चित्त उस संकीर्ण विकल्पात्मक ज्ञान से अपरक्त होता है तो वह सवितर्क समापत्ति होती है।

निर्वितर्क समापत्ति में सूर्य को आलंबन बनाने पर केवल सूर्य का सम्बन्ध उपलब्ध होता है एवं अन्य सभी विषयों का विस्मरण हो जाता है। तूष्णीविकल्पक साक्षहीन चिन्तन निर्वितर्क ध्यान होता है। इस ध्यान में जब चित्त की तदाकारकारितता होती है तब वही निर्वितर्क समापत्ति होती है।

विकल्पशून्य ध्यान द्वारा सूर्यस्थ का साक्षात्कार होने के अनन्त उसकी सूक्ष्मवस्था की उपलब्धि करने की इच्छा से प्रक्रिया विशेष द्वारा

1- वितर्कः चित्तस्थानात्कौ सूक्ष्म आभोगः सूक्ष्मो विचारः  
यो. भा. सू. 1-12

चित्त को स्थिर करने पर सूर्यरूप की परसूक्ष्मवस्था का ज्ञान होता है ।  
 स विचारा समापत्ति शब्दार्थज्ञान विकल्प से संकीर्ण होती है । आचार्य  
 हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार केवल तन्मात्र ही नहीं वरन् तन्मात्र,  
 अहंकार, बुद्धि और ज्ञेयवस्तु ये सभी सूक्ष्म पदार्थ निर्विचारा के विषय  
 हैं । शब्दादि की संकीर्ण स्मृति समाप्त हो जाने पर केवल सूक्ष्म  
 विषयगत को प्रकाशित करने वाली समाधि होती है । विकल्पहीन  
 समाधिभावों से सूक्ष्म विषय में चित्त की परिपूर्णता ही निर्विचारा  
 समापत्ति है ।

...

चतुर्थ अः वाय

---

योग भै हिवर

## चतुर्थ अध्याय

### योग में ईश्वर

सांख्य आर योग में प्रायः सभी तत्त्वों पर श्रेष्ठ्य होने हुए भी एक महत्त्वपूर्ण अन्तर ईश्वर के प्रश्न को लेकर है। इसी कारण सांख्य को निरीश्वरवादी एवं योग को ईश्वरवादी अर्थात् श्रेष्ठ ईश्वर सांख्य कहा जाता है। योगदर्शन में ईश्वर का भी समक्षोक्ति किया गया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि योग में सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त जोर एक छब्बीसवाँ तत्त्व है। वस्तुतः योगदर्शन में भी सांख्य के ही समान 25 तत्त्व हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए सूक्ष्मकार ने ईश्वर का निरूपण करते हुए उसे एक प्रकार का पुरुष ही बताया है। "जेज्ञाकर्मविद्याकाशयैरंपरामृष्टः पुरुषविशोभ ईश्वरः"। अर्थात् ईश्वर पुरुषविशोभ ही है, तदव्यतिरिक्त अन्य कोई छब्बीसवाँ तत्त्व नहीं है। ज्ञेया = अविद्या आदि पुण्य और पापकर्म अर्थात् कर्मों के संस्कार हैं कर्म सफल ही विद्याक है तथा उस विद्याक के अनुस्यूत सम्प्रत वासनार आशय हैं।

योग का ईश्वर अविद्यादि ज्ञेयों, धर्मधर्मस्थ कर्मों, उनके विषाक अर्थात् फलों एवं उनसे बने वाले वासनार संस्कारों से अपरामृष्ट है। तात्पर्य यह है कि अन्य पुरुषों के समान ईश्वर में उनका उपचार नहीं होता है। अन्य सभी पुरुष किसी न किसी वयन से आबद्ध रहते हैं परन्तु ईश्वर ही

1- ज्ञेयाकर्मविद्याकाशयैरंपरामृष्टः पुरुषविशोभ ईश्वरः । यो. सू. 1-24.

2- मुक्तपुरुषविशोभो यस्तु चित्तं तदेव मुक्तमित्यस्य प्रथमपुरुष व्यतिक्रान्तः भा. पु. 64.

एतन्मदीश्वरबुद्धितत्त्वप्रकृत्यापकायास्तद्वत्तत्त्वं सत्तद्वत्त्वं तिज्ञायते । तद्व. पु. 71



सकाम ऐसा पुरुष है जो कभी भी किसी बंधन से आबद्ध नहीं होता है । यह सदैव मुक्त रहता है । ईश्वर प्रकृत तत्त्व है । ईश्वर का ऐश्वर्य साम्य और अतिशयता से युक्त है अर्थात् ईश्वर के ऐश्वर्य के समान अथवा उससे अधिक अन्य किसी का ऐश्वर्य नहीं है । यहाँ पर ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है, वही ईश्वर है<sup>1</sup>। क्योंकि महत् और महत्तर के होने पर महत्त्व की सत्ता अपरिहार्य हो जाती है ।

ईश्वर के सार्वकालिक उत्कर्ष में शास्त्र प्रमाण हैं एवं प्रकृतस्वस्व ईश्वरोपाधि शास्त्र में प्रमाण है । अतः शास्त्र एवं ईश्वरोत्कर्ष में अनादि सम्बन्ध है । ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज ज्ञानी पूर्णता तक पहुँचा हुआ है<sup>2</sup>। वह कर्मविधान से परे है । ईश्वर कालबाधित है अर्थात् काल से अवर्धन्न नहीं है अतः वह पूर्ववर्ती पुरुषों का भी गुरु है<sup>3</sup>। पतंजलि के अनुसार यह सत्य का अपदेष्टा एवं महान गुरु है । विश्व के लगभग सभी दार्शनिक गुरु के रूप में ईश्वर को सदैव स्वीकार करते हैं ।

अन्य पुरुषों से उपर्युक्त अन्तर ईश्वर में होते हुए भी वह पुरुष है भिन्न जोई अस्य तत् नही है । इन सभी प्रकार के भेदभेदों एवं चक्षुषों के होते हुए भी ईश्वर "पुरुषविशेष" ही है<sup>4</sup>।

1- तस्माद् यस्य साम्यात् तद्भावि निर्मुक्तम्यस्यै स ईश्वरः स च पुरुषविशेष इति । यो. भा. पृ. 72

2- तन् निरतिशयं सर्वबीजम् । 1-25

3- पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । 1-26

4- पुरुषविशेष ऐश्वरः तथा चेश्वरस्य पुरुषेऽन्तर्भावस्तदुपाधेः प्रधान इति ।

यो. भा. पृ. 62

ईश्वर का वाचक शब्द प्रणव अर्थात् ओम् है<sup>1</sup>। इस प्रणव का जप करने एवं उसके अर्थ की भावना करने से चित्त सक्रिय होता है<sup>2</sup>। सक्रिय चित्त के द्वारा समाधि लाभ शीघ्र संभावित होता है। मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मस्य चरम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आख्या को शर एवं प्रणव को धनुष बताया गया है --

प्रणवो धनुः शरीरधात्मा ब्रह्मस्य मुखयते ।

अग्रमत्तेन तन्द्राद्यं शरवत्स्यथो भेति ॥ मुण्डकोपनिषद् 2/2/4१

मुण्डकोपनिषद् में भी "ओमित्येकक्षरमिदं सर्वं तत्सर्वोपव्याख्यानं मूर्ध्ना भवद् भक्तिभ्यदिति सर्वभोंकार एव ।" अर्थात् सकल भूत, वर्तमान एवं भविष्य ओम् स्व अक्षर ही है। त्रिकाल से परे भी सब कुछ ओंकार स्व ही है। इस प्रकार ओम् शब्द को भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। इसी प्रकार से भावगीता में भी ओम् का महात्म्य स्वीकृत किया गया है<sup>3</sup>। योगदर्शन में ईश्वर की क्रियात्मक उपयोगिता यह है कि योगी की उत्कृष्ट भक्ति से प्रसन्न किया गया ईश्वर संकल्पमान से ही योगमार्ग में आने वाले सभी कष्टों को दूर कर देता है। तथा समाधि मार्ग को प्रशस्त करता है। अतः योगियों के लिए ईश्वर एक शक्तिशाली संबल के समान है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि ईश्वर केवल्यमार्ग में जाए विघ्नों का निवारण तो कर देता है परन्तु वह साक्षात् केत्य का दाता नहीं है।

1- तस्य वाचकः प्रणवः 1-27

2- तज्जस्तत्संभावनम् । 1-28.

3- योमित्येकक्षरं ब्रह्मः व्यावहरन् ममुस्मरन् । या प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमं गतिम् । गीता - 8/3.

सूत्रकार पतंजलि के अनुसार योगदर्शन में ईश्वर को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है। उसे कोई महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व नहीं प्रदान किया गया है। वह सुष्टिस्तं प्रत्य की प्रक्रिया से भी सम्बद्ध नहीं है। योग की तत्त्वता लिका में भी ईश्वर को कोई स्थान नहीं प्राप्त है। इस आधार पर डा. राधाकृष्णन् का मत है कि योगदर्शन का शरीरधारी ईश्वर उक्त दर्शन के शोध भाग के साथ अत्यन्त शिथिलतापूर्वक सम्बद्ध है। क्योंकि एक योगी का अन्ततः लक्ष्य जो प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान ही है, ईश्वर के साथ सन्निध न नहीं। ईश्वर न तो इस जगत का सृष्टा ही है और न ही संरक्षक। रिचर्ड गार्डर म्होदय तो यहां तक मानते हैं कि ईश्वर का प्रतिपादन करने वाले सभी सूत्र ग्रन्थ के अन्ध भाग से सम्बद्ध नहीं हैं। यही नहीं वरन् वे इस दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों के भी विरोधी हैं। मैक्समूलर का भी यही मत है कि ईश्वर सुष्टिकर्ता के पद तक पहुँचा ही नहीं। परन्तु: ऐसा प्रतीत होता है कि आस्तिक्य बुद्धि वाले भारतीय मानस को योगदर्शन के दुष्कर मार्ग की ओर आकर्षित करने के लिए ही ईश्वर की कल्पना कर ली गयी है। शैव एवं वैष्णव दर्शन के प्रभाव को कुछ कम करने के लिए भी ईश्वर की कल्पना एक महत्त्वपूर्ण सोपान सिद्ध हुई है। ईश्वर को स्वीकार करके योगदर्शन पुस्तक गनुत्पन्नादी सौम्य और अंत वेदान्त के मध्य एक कड़ी का कार्य करता है।

योगसूत्र में प्राप्त इस विवादास्पद स्थिति से ईश्वर को उबारने के लिए भाष्यकार व्यास से कुछ और प्रयत्न किए एवं ईश्वर को अधिक व्यावहारिक रूप प्रदान किया। व्यास ने प्रकृत वास्त में स्थित शास्त्र एवं ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष का प्रतिपादन किया।

ईश्वरचित्त में वर्तमान जो उत्कर्ष अर्थात् आदिभुक्ता या सर्वज्ञता है वे ही मोक्षशास्त्र के मूल में भी है। इनका विभित्तनैमित्तिक सम्बन्ध

भी अनादि है अर्थात् जैसे अनादिगुण ईश्वर है वैसे अनादिगोक्षशास्त्र भी है । यह कहना ठीक ही है कि ऐसे बहुत शास्त्र-महाग्रह हैं जिनका सर्वत्र ईश्वर द्वारा कृत होना तो दूर रहा उनके निर्माता बुद्धिमान और चरित्रवान व्यक्त भी नहीं है । सभी प्रचलित शास्त्र इस मोक्ष विद्या का आलम्बन करके ही रचे गये हैं ।

परवर्ती व्याख्याकारों ने ईश्वर को और अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है । तत्त्वशास्त्रों के रचयिता वाचस्पति मिश्र ने तो ईश्वर के सृष्टि और प्रलय की प्रक्रिया से भी सम्बन्ध कर लिया है । वाचस्पति मिश्र का मत है कि प्रकृति ईश्वर से अधिष्ठित होकर ही सृष्टि और प्रलय की प्रक्रिया को पूर्ण करती है । विज्ञानशिक्षु ने भी योगसारसंग्रह में इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि सब प्रकार से चैतन्ययुक्त ध्यान में ईश्वर का ध्यान सर्वश्रेष्ठ है । आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार ईश्वर के प्रणिधान के समधिनाम में सहायता मिलती है और अन्ततः योगी का अंतिम लक्ष्य अर्थात् कैवल्यप्राप्ति होती है ।

भाष्यकार व्यास और उनके परवर्ती व्याख्याकारों ने ईश्वर को एक स्थिर रूप प्रदान करके उसके कार्यक्षेत्र को और अधिक विस्तृत कर दिया है । योगसूत्रों में प्राप्त इस विवादास्पद स्थिति से ईश्वर को बचाने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण चरण सिद्ध हुआ । भाष्यकार एवं परवर्ती व्याख्याकारों के प्रयास के फलस्वरूप आज योगदर्शन में ईश्वर की सत्ता अविनाशनीय हो गयी है । पुरुष विशेष के रूप में ईश्वर योगदर्शन का अभिन्न अंग बन गया है ।

पंचम अध्याय

---

योग साधना के उपाय  
त्रिधायोग, सौगन्ताधना के अंग, तथा  
अन्य सिद्धान्त

===

## पंचम अध्याय

### योग-साधना के उपाय

योग साधना के उपायों का विवरण साधनपाद में है । परन्तु प्रथम समाधि पाद में भी चित्तवृत्तियों के विशद विवेचन के ठीक पश्चात् ही चित्त निरोध के उपाय, स्वल्प अभ्यास एवं वैराग्य इनका निर्देश किया गया है<sup>1</sup>। भावदगीता की भी अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा होता है<sup>2</sup>।

साधनपाद के प्रारंभ में सभी टीकाकारों ने यह स्पष्ट किया है कि ये उपाय मध्य अथवा मन्द अधिकारियों के लिए हैं<sup>3</sup>। राजमर्तण्ड सृष्टि में भोज ने अन्य उपायों के साथ ही ईश्वरप्रस्थान को भी एक तरह उपाय के रूप में सम्मिलित कर लिया है<sup>4</sup>। विज्ञानभिक्षु ने योगियों के उत्तम, मध्यम एवं भेद इस प्रकार से तीन भेद किये हैं एवं समाधिपाद के वर्णित अभ्यास एवं वैराग्य ये उपाय उत्तम अधिकारियों के लिए माने हैं । आचार्य आरण्य के अनुसार अभ्यास एवं वैराग्य ही दो मुख्य उपाय हैं जिनके द्वारा सम्प्रज्ञात अथवा जसम्प्रज्ञात योग की सिद्धि हो सकती है । अन्य सभी उपायों का इन दो में अन्तर्भाव हो जाता है ।

1- अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः यो. सू. 1-12.

2- अभ्यासेन हि कोन्तेय । वैराग्येण च गृह्यते । भावदगीता- 6/35.

3- मनःप्रधानसाधना मि तथा अभ्यासेन वैराग्येण च सित्तस्य समाधेरवान्तरभेदात्त-  
त्फलसूत्रं केत्वथैति योगः प्रथम पाद उद्दिष्टः, द्युतिशक्त्य निरन्तरध्याना-  
स्यात्तैराग्याभावनात्मकस्य चेतसः कैर्योगानुकूलक्रिया अचरणैर्योगः  
सम्भवेदिति । भा. पु. 138.

4- सुगमोपाय प्रदर्शनपरत्पेश्वरस्य स्वल्पप्रमाणभाष्यायकोपासनाक्रमं तत्फलानि  
च निर्णाय । —रा. भा. पु. 28.

अभ्यास एवं वैराग्य में वे क्रमोत्प्रेष के अनुसार अभ्यास पहले एवं वैराग्य बाद में आता है ।

अभ्यास का लक्षण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि स्थिति के लिये किया गया प्रयत्न ही अभ्यास है<sup>1</sup>। स्थिति शब्द को लेकर व्याख्याकारों में कुछ मतभेद है । ताचस्पति मित्र के अनुसार राजस एवं तामस वृत्तियों से रहित चित्त की प्रशांतता ही स्थिति है<sup>2</sup>। राघवानन्द सरस्वती के मतानुसार भी "अवृत्तिकथं चित्तस्य" में नञ् प्रत्यय का प्रयोग अल्प के अर्थ में हुआ है<sup>3</sup>। भिक्षु के अनुसार भी "अवृत्तिकथं" के द्वारा चित्त की वृत्तिषुन्य अर्थात् का वर्णन नहीं किया गया है । यहाँ पर आरण्य का इन सभी से मतभेद है । आचार्य के अनुसार वृत्तिषुन्य चित्त का प्रशांतता ही अर्थात् निरुद्ध वृत्तियों के प्रवाह का ही नाम स्थिति है<sup>4</sup>।

आरण्य का यह मत व्यावहारिक रूप तादिक सभी दृष्टियों से अधिक युक्तियुक्त एवं रोचक प्रतीत होता है । क्योंकि यो विजनों का अंतिम असम्प्रगत योग ही है और उसी की प्राप्ति के लिए उपायों का कथन किया जा रहा है । असम्प्रगत योग को प्राप्त करने वाली स्थिति निरुद्धवृत्त्यात्मका ही है । फलतः सूत्रकार एवं भाष्यकार को निरुद्धचित्त की प्रशांतता ही है । इस स्थिति पर आचार्य के विचार सर्वथा

1- तत्र स्थितौ यत्नो अभ्यासः । यो. सू. 1-13.

2- राजसतामसवृत्तिराहितस्य प्रशांतता ही विनलासा त्तिकवृत्तिवाहितकागता स्थितिः । तत्र वै. पु. 45-46.

3- तत्राचार्यैः संवीकृत्याह- अवृत्तिकथेति । पार्तनरहस्यम् , पृ. 45.

4- अवृत्तिकथं निरुद्धचित्तस्य या प्रशांतता ही निरुद्धवृत्त्यात्मकाः प्रवाहः सा हि मुमुक्षा स्थितिः । भा. पृ. 45.

में लिक सर्व अन्य व्याख्याकारों से पूर्णतया भिन्न हैं। इस स्थिति को स्थायी रूप से बनाये रखने के लिये जो बारम्बार प्रयत्न किया जाता है, वही अभ्यास है।

एह अभ्यास, चिरकाल तक, निरन्तर, सर्व सत्कार या जादरसहित किया जाने पर दृढ़भूमि होता है<sup>1</sup>। श्रुति के अनुसार भी जो ज्ञान श्रद्धा तथा सारथुक्त शास्त्रज्ञान के साथ अर्थात् यथार्थ रीति से किया जाता है, वही अधिक वीर्यवान् होता है<sup>2</sup>।

चित्तवृत्तिनिरोध का दूसरा रूप अधिक जटिल तथा दुर्लभ व्याय वैराग्य है। मायाग्य इस जगत में वैराग्य निश्चय ही कठोर अभ्यास से प्राप्त किया जा सकता है। काण्डीस ने भी कुमारसंभ में लिखा है—  
“विकारहेतो सति विक्रियन्ते येषां न चैतान्ति त एव धीराः”। अर्थात् विकार का कारण विमान रहने पर भी जिनके मन में विकार नहीं उत्पन्न होता वे ही धीर हैं। वैराग्य दो प्रकार का होता है, अर वैराग्य सर्व पर-वैराग्य। ऐहिक रूप भारत में किक विधियों से विरक्त चित्त का वशीकार नामक वैराग्य होता है<sup>3</sup>। आरण्य के अनुसार भी चित्त की जो विकृष्टता भाव से स्थिति है, वही वशीकार संज्ञक वैराग्य है<sup>4</sup>।

आचार्य ने अत्यन्त सुन्दर रीति से वशीकार की तीन पूर्वावस्थाओं का

1- स तु दीर्घकालरन्त्यस्तत्कारासे क्विो दृढ़भूमिः । यो. सू. 1-14.

2- यदेव क्विया करोति च योप सिद्धा तदेव वीर्यवततरम्भवति । छान्दोग्य-1/1

3- दृढानुभूतिक्विच्य विकृष्टणस्य वशीकारतन्नापैराग्यम् । यो. सू. 1-15.

4- चित्तस्य विकृष्टणभावेनावति क्वित्त्वं वशीकारारायण्यं वैराग्यम् वशी-  
कारस्य तिस्रः पूर्वावस्थाः तद् यथा- यत्मान- च्य तिरेक्य एकेन्द्रियमिति ।



वर्णन किया है। वशीकार एकाएक सहज ही तो प्राप्त नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः वह क्रमिक सोपानों के रूप में ही पाया जा सकता है। ये क्रमिक सोपान ही तीन पूर्वतत्स्थारं हैं जिनका सरल स्पष्टीकरण आरण्य ने किया है। ये तीन पूर्वतत्स्थारं यत्मान्, व्यतिरेक एतं एकेन्द्रिय हैं। रानों जो तत्रा में करने के लिए जो चेष्टा की जाती है, वह यत्मान वशीकार है<sup>1</sup>। जब कुछ विषयों में वैराग्य सिद्ध हो जाए एवं कुछ विषयों में शोध हो तब व्यतिरेक से अवधारण होने के कारण वह व्यतिरेक वशीकार होता है<sup>2</sup>। सबसे अन्त में राग अत्यन्त क्षीण होकर स्थित रहता है एवं उस क्षीण राग का भी नाश कर दिया जाए तो वह एकेन्द्रिय वशीकार है<sup>3</sup>। इस प्रकार वशीकार संज्ञक वैराग्य का सरल स्पष्टीकरण आरण्य ने किया है।

लौकिक एवं पारलौकिक इस भेद से इन्द्रिय ग्राह्य विषय दो प्रकार के होते हैं। स्त्री, जन्म, पान्, ऐश्वर्यादि लौकिक विषय हैं। स्वर्ग, विदेह त्वत् एवं प्रकृतित्वत् ये पारलौकिक विषय हैं। विषयों के प्रति केवल उपेक्षा-वृद्धि ही वैराग्य नहीं है, क्योंकि किन्हीं-किन्हीं मानसिक रोगों के कारण अथवा कभी कोई विषय प्राप्त करने की सामर्थ्य न होने पर भी विषय के प्रति उपेक्षा-वृद्धि हो जाती है। परन्तु वह वैराग्य नहीं है। वैराग्य के लिए आवश्यक है कि पहले विषय के दोषों को समझ लिया जाए एवं तत्पश्चात् विषयों अभ्यास द्वारा वशीकार ही उसमें विरक्तिभाव जागृत हो। लौकिक एवं पारलौकिक

1- रानोत्पादनाय चैत्मानता यत्मानम् । भा. प्र. 47.

2- केषु चिद् विषयेषु विरागः सिद्धः केषु चिच्च साध्य इति यत्र व्यतिरेकेणावधारणं तद् व्यतिरेकज्ञम् । भा. 47.

3- ततः परं चैकेन्द्रिये मनस्योत्सुक्यमत्रेण क्षीणो रागस्तिष्ठति तदैकेन्द्रियेण तादस्यापि रागस्य नाशात् वशीकारः सिद्ध्यतीति । भा.

लिख्यों के प्रति होने वाला वैराग्य अर्यराग्य है तथा उससे भी प्रेष्ठ वैराग्य दूसरा अर्थात् परवैराग्य है। यह परवैराग्य गुणवैतुण्य का होता है। अर्यवैराग्य सम्प्राप्त समाधि सिद्ध होने के फलस्वरूप विकृतियों के द्वारा जब पुण्य का साक्षात्कार होता है, तब गुणों के प्रति जो द्वेष-वृत्ति होती है, वही परवैराग्य है<sup>1</sup>।

परवैराग्य ज्ञान की पराकाष्ठा है। परवैराग्य के पश्चात् से कुछ भी अविशिष्ट नहीं रह जाता है। योगी को आतप्य जो कुछ भी है, सभी का ज्ञान हो जाता है। पापों, दोषों का नाश हो जाता है। कर्म-शुद्धि का चक्र समाप्त हो जाता है<sup>2</sup>।

परमार्थ का ज्ञान ही संपूर्ण दुःखसमूह का निवारक होता है। जिस ज्ञान से दुःख की सर्वथा निवृत्ति होती है वही ज्ञान ही अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा है। योग का अन्तिम लक्ष्य केवल्य इस परवैराग्य का नान्तरीयक अर्थात् नियत्परवर्ती है<sup>3</sup>।

1- तत्परं पुण्यवैतुण्यवैतुण्यम् । यो. सू. 1-16.

2- यस्योदये प्रत्युदितव्यातिरेकमन्वये, प्राप्ते प्रापणीयं क्षीयाः क्षतव्याः  
क्षेप्याः, छिन्नः शिल्पवर्षा भङ्गमोः । यो. भा. पृ. 50.

3- ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् एतस्यैव हि नान्तरीयकं केवल्यमिति ।  
यो. भा.

## क्रियायोग

योग या चित्त स्थैर्य को उद्देश्य कर जो क्रियाएँ की जाती हैं अथवा जो क्रियाएँ या कर्म योग के गौण साधक होते हैं वही क्रियायोग हैं<sup>1</sup>।

क्रियाओं का वाश्रय लेकर योग सिद्ध करना ही क्रियायोग है<sup>2</sup>। क्रियायोग का विधान योगशास्त्र में प्रवेश करने के इच्छुक मध्यम अधिकारियों के लिए किया गया है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार समाहित चित्त एवं पूर्वजन्म में योगसाधना किये हुए उत्तम अधिकारियों के लिए समाधिमाद में अभ्यास एवं वैराग्य इन उपायों को बताया गया है। परन्तु विद्विष्य चित्तपात्रे एवं योगसाधना के लिए सर्वथा अपरिचित एवं नवीन मध्यम अधिकारियों के लिए अभ्यास और वैराग्य ये उपाय अत्यन्त दुःकर हैं। अतः उनके लिए सरल उपाय स्वरूप क्रियायोग का कथन किया गया है। जो अल्प साधक इस क्रियायोग को करने में भी आसक्त हो जाते हैं उनके लिए आठवंगयोग का निर्देश किया गया है<sup>3</sup>।

भारतवर्ष में जो अधिकारी निरन्तर ध्यान का अभ्यास एवं वैराग्य की भावना करने में असमर्थ होते हैं, उन्हीं के लिए इस क्रियायोग का चयन किया गया है। अस्मिता दिर्घकेशाओं को क्षीण करके समाधि की भावना

1- कर्मविरत्ये योगमुद्दिश्य कर्मपरं क्रियायोगः

2- क्रियै योगः क्रियायोगः योगसाधनत्पाद । लोके ७० 138.

3- पूर्ववादे ह्युत्तमाधिकारिण ३ अभ्यासवैराग्ये एव योग्योः साधनुक्तं ततश्च मध्यमाधिकारिणां तपःस्वाध्यायेऽमरप्रथियानान्यपि क्वलानि साधनान्येत्समादस्यादाप्तुक्तानि अतः परं मन्दाधिकारिणां यमादीन्यपि योगसाधनानि वक्तव्यानि ज्ञानसाधनसंगेनेत्यमीनरुत्तरम् । यो. वा.

कराना ही इस क्रियायोग का प्रयोजन है । "कर्म प्रधानतः तीन प्रकार के हैं—  
तपस्या, स्वाध्याय तथा शिवरप्रणिधान" ।

"नात्पस्विनो योगसिद्धयति" योगभाष्य में उद्धृत यह पंक्ति प्रमाण है कि अत्पस्वी योगसिद्धि नहीं कर सकता है । अनादिकाल से चले आये क्लेश एवं कर्म इनके संस्कारों के चक्र में लिप्त चित्त का मूल तपस्या के बिना शुद्ध नहीं हो सकता है<sup>2</sup> । रज्जु एवं तमसु से अभिभूत अतः इस कारण अशुद्ध एवं म्लोक्त चित्त किस प्रकार से शुद्ध होता है, उसके लिये सुन्दर उदाहरण देते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार लोहेके की छड़ से पाषाण पर बारम्बार प्रहार करने से वह शुद्ध मलहीन एवं चमकदार हो जाता है, उसी प्रकार रज्जु एवं तमसजन्य चित्तमल अथवा अशुद्धि भी तपस्या के द्वारा चिरल अवयवों वाली अर्थात् क्षीण हो जाती है<sup>3</sup> । तपस्या भी दो प्रकार की होती है — १। सात्त्विक अर्थात् चित्त को प्रसन्न करने वाली, एवं २। तामसी अर्थात् शारीरिक पीड़ा, व्याधि इन्द्रियदोष आदि उत्पन्न करने वाली । क्रियायोग में सात्त्विक तप का ही अन्तर्भाव किया जाता है । इस तप से ही चित्तमल दूर होता है और समाधि की भावना उत्पन्न होती है । इसके विपरीत तामसी तपस्या अनेक शारीरिक एवं मानसिक दोषों को उत्पन्न करने के कारण योगमार्ग में विघ्नस्तम्भ ही है । अनेक लोग अज्ञानवशात् इसी क्लृप्तायी तपस्या में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं परन्तु उन्हें ध्येयप्राप्ति नहीं हो पाती है । योगदर्शन में यह तप सर्वथा वर्जित है । योगसिद्धि के लिए चित्त को प्रसन्न करने वाले तप का विधान है

1- तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः या. सु. 2-1.

2- समाधिभावनायः क्लेशतनुकरणार्थका । यो. सु. 2-2.

3- अयोधना भिन्नतः पाषाण इव सा अशुद्धिस्तपसा चिरलायप्या भवतीति ।

क्योंकि चित्त की प्रसन्नता प्रथम स्थिति है एवं तदनन्तर क्रमशः समाधि लाभ की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है ।

सुस्त आहार विहार विद्युक्त साधक की योगसाधना दुःख का प्रथमन करती है । सुस्वगणहार का अर्थ सात्त्विक, अल्प एवं शुद्ध आहार है । दुष्कर्मों से अर्जित धन द्वारा बना भोजन मन में बुरे विचार लाता है । अतः साधन अर्थात् द्रव्यार्जन के साधन का भी विरोध रहस्य है । परिश्रम एवं ईमानदारी के द्वारा अर्जित धन से बना भोजन मनमें सुन्दर विचार आगृत करता है, साथ ही शरीर के लिए भी लाभदायक एवं स्वास्थ्यपूर्ण होता है । गीताके अनुसार सात्त्विक आहार आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख एवं प्रीति का वर्धन करने लाता होता है । यह सात्त्विक आहार तिग्म, स्थिर रहने वाला तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय होता है<sup>1</sup> । जितनी भूख हो उसके एक चतुर्थांश से कुछ कम भोजन करना गिताहार कहलाता है । भोजन के सम्बन्ध में यह भी निश्चय है कि योगी को आधा पेट भोजन करना चाहिए । आहार का एक चतुर्थांश जल सेवन करना चाहिए एवं भूख से एक चौथाई भाग श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया को स्वाभाविक रूप से होने के लिए छोड़ देना चाहिए । पेट भर भोजन करने से श्वास-प्रश्वास में कठिनाई होती है ।

आचार्य के अनुसार तपस्या कायसंयम है<sup>2</sup> । उनके अनुसार चित्त को प्रसन्न करने वाले आसन एवं प्राणायाम, म्लिहार, केशा सहन करना एवं

1- आयुः सत्त्वायुषारोग्य सुखप्रीति विवर्धनाः ।

रत्याः तिग्माः स्थिरा दृया आहाराः सात्त्विकाः प्रियाः । श्रीमद् भगवद्गीता 17-6

2- तपस्तु चित्तप्रसादकराणां भसनप्राणायामोपोषणानां केशासहनं सुखत्यागस्य

कायसंयमस्तमः । भा. पृ. 138.

सुखत्याग ही तप है । तप के द्वारा योगी का क्लेशिष्णु बनना है एवं शारीरिक सुख के प्राप्त न होने पर भी जब मानसिक विकार उत्पन्न न हों तो योगसाधना का अधिकारी बना जा सकता है । गीता में शारीरिक तप का वर्णन इस प्रकार किया गया है —

तैवद्विजुस्त्राज्ञपूर्जनं शीघमर्जवत् ।  
ब्रह्मर्धमहिंसाच शारीरं तप उच्यते ॥ १ ॥

आचार्य के अनुसार, जिस प्रकार तप शारीरिक संयम है उसी प्रकार स्वाध्याय वाचिक संयम एवं ईश्वरप्रणिधान ये मानसिक संयम हैं<sup>१</sup> ।

स्वाध्याय के विषय में गीता में भावना श्रीकृष्ण ने 'यज्ञानां ज्यस्तोअति' कहकर जगत् के महात्म कर्म उपादेयता को स्वीकार किया है । मन्त्रजप के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि मन्त्र वैदिक एवं तान्त्रिक इस भेद से विविध है । वैदिक मंत्रों में जिस देवता का चिन्तन अभीष्ट ही उस देवता के लिए प्रयुक्त मन्त्रों का जप करना चाहिए । मन्त्र जप से पूर्व यदि योग्य गुरु का निर्देश ले लिया जाए तो अधिक अच्छा होता है । स्वाध्याय वाचिक क्रियायोग है । स्वाध्याय से पंचक्लेश क्षीण होते हैं एवं समाधि की भावना होती है ।

आचार्य के अनुसार ईश्वरप्रणिधान मानसिक संयम है । सकल क्रियाओं का ईश्वर के प्रति समर्पण कर देना ही ईश्वरप्रणिधान है । मनु, ध्यान और कर्म से सभी कार्य ईश्वर को अर्पित कर देना चाहिए । जो कुछ भी मैं करता हूँ वह ईश्वर की ही प्रेरणा से हो रहा है, यह भावना सदैव मन में होनी चाहिए । ईश्वर प्रणिधान का स्वल्प निम्न लिखित श्लोक में स्पष्ट है —

१- द्रष्टव्य- श्रीमद् भगवद् गीता— १७-१५

२- वाक्संयमः स्वाध्यायः ईश्वरप्रणिधानन्तु मानसःसंयम इति ।

भा. पु. १३४

"कागतो अकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।  
तत्तर्हि त्ययि सन्वस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥"

उर्ध्वत कामना से अथवा निःकाम भावना से जो भी शुभ अथवा अशुभ कार्य में करता हूँ वे सब मैं आपको अर्पित करता हूँ क्योंकि भरे सकल कर्म आपके द्वारा ही प्रेरित हैं ।

ईश्वरप्रणिधान का दूसरा स्वल्प है--कर्मफलत्याग । बिना किसी कल्याण की आकांक्षा के कर्म में लगे रहना ही कर्मफलत्याग स्व ईश्वर-प्रणिधान है । ईश्वरप्रणिधान के इसी स्वल्प का उपदेश श्रीकृष्ण ने गीता में दिया है --

"कर्मण्येवाधि वरहते मा फलेषु कदाचन ।  
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सौमहत्त्वकर्मणि ॥"

किसी फल की आकांक्षा अथवा स्वार्थ से किये गये कर्म बन्धन के हेतु होते हैं । यदि कर्मफलों का त्याग किया जाए तो बन्धन भी सहज ही समाप्त हो जाते हैं सर्व समाधि लाभ होता है । इन ३ क्रियायोगों का मुख्य प्रयोजन अतियादि पंच क्लेशों को क्षीण करना सर्व समाधि की भावना करना है । क्लेशों के क्षीण होने से चित्त समाधि की ओर अभिमुख होता है ।

इस प्रसंग में यह शंकर उठती है कि क्रियायोग सर्व विवेकव्याप्ति इन दोनों के प्रविधान कथन की क्या आवश्यकता है । यदि क्रियायोग से क्लेश क्षीण हो जाते हैं तो विवेकव्याप्ति का क्या प्रयोजन है और यदि विवेकव्याप्ति से ही क्लेश दग्धबीजत्वं प्राप्त करते हैं तो क्रियायोग से

कैलात्नकरण का विधान अनावश्यक है । परन्तु यह शंका निर्मूल है क्योंकि सम्यग्धिशासन के लिए दोनों का अपना स्थान एवं महत्त्व है । क्रमिक सोपान की दृष्टि से देखा जाए तो सर्वप्रथम क्रियायोग से चित्त अभ्यास एवं कैराग्य में प्रवृत्ति करने के योग्य बनता है । अभ्यास और कैराग्य से क्रमशः समग्रज्ञान सम्यग्धि विकसित होता है एवं असम्पन्नता सम्यग्धि की सिद्धि होती है । क्रियायोग के द्वारा कैलाधीन होते हैं एवं ये ही धीरे धीरे कैला विकसित होकर प्रज्ञा से दग्धबीज होकर फल देने में समर्थ बनते हैं । इस कारण से योगसाधना में क्रियायोग का विशेष महत्त्व होता है ।

...



## योगसाधना के अंग

योगांग के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय होता है एवं विवेकव्याप्ति पर्यन्त ज्ञानदीप्ति होती रहती है<sup>1</sup>। भाष्यकार योगांगों के अनुष्ठान की परशु से उपमा देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार परशु किसी वस्तु को काट कर सर्वथा अलग कर देता है उसी प्रकार से अनुष्ठान भी अविद्या को चित्त से सा कल्पेन दूर कर देते हैं<sup>2</sup>। यह अशुद्धियों का वियोगकरण एवं विवेकव्याप्ति का प्राप्तिकारण है।

योगसाधना के आठ अंग माने गये हैं। यम, निधम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि ये योग के ऋत्वांग हैं<sup>3</sup>। इनमें से प्रथम पाँच योग के बहिरंग एवं अन्तिम तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के अन्तरंग माने जाते हैं। समाधिसाधन के लिए अभ्यास, पैराग्य आदि का निर्देश समाधि पाद में किया गया है। समाधिपाद में ही चित्त के परिकर्मों का भी उपदेश चित्त को समाधिसिद्ध योग बनाने के लिए किया गया है। वस्तुतः ये सब भी ऋत्वांगों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इन आठ योगांगों का बार-बार अनुष्ठान करना अभ्यास है। नियम के अन्तर्गत आने वाले सन्तोष में पैराग्य अन्तर्भूत हो जाता है। श्रद्धा आदि तप की कौटि में आते हैं। चित्त परिकर्मों का संग्रह धारणा, ध्यान आदि में किया जा सकता है। इस प्रकार अभ्यास, पैराग्य, चित्त परिकर्म

1- योगांगानुष्ठानादशुद्धिर्भवे ज्ञानदीप्तिराविवेकव्याप्तेः । यो. सू. 2-28

2- योगांगानुष्ठानमशुद्धौ वियोगकरणम् यथा परशुश्लेषस्य । यो. भा. सू. - 2-28.

3- यमनिधमासनप्राणायामप्रत्याहार धारणाध्यानसमाधयो ऋत्वांगानि ।

सर्व क्रियायोग सभी का अन्तर्भाव योगांगों में हो जाता है<sup>1</sup>।

यम — इन अङ्गों में सर्वप्रथम स्थान यमों का है। यम नियुक्तिव्य होते हैं। यम उपरमे धातु में षष्ठ प्रत्यय लगाने से यम शब्द की निष्पत्ति होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं<sup>2</sup>। हिंसा, अस्त्य, स्तेय, भुक्षण सर्व परिग्रह आदि से नियुक्ति ही यम है। योगसार-संग्रह में इन यमों का परिगणन करते हुए कहा गया है कि ये प्राणियों के चित्त की शुद्धि करते हैं —

“अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं परिग्रहो ।

यमः सधैर्यततः प्रोक्ता विचत शुद्धिप्रदानुषाह”।<sup>3</sup>

अहिंसा — ये अहिंसा-सिद्धि के हेतु होने का कारण अहिंसा-प्रतिपादन के लिए ही निर्दिष्ट है<sup>4</sup>। भाष्यकार के अनुसार समस्त प्राणियों के प्रति सर्वथा पीड़ा न पहुँचाना ही अहिंसा है। आचार्य आरण्य के अनुसार केवल पशुपीडनराहित्य ही अहिंसा नहीं है वरन् परपीडनराहित्य के साथ ही साथ प्राणियों के प्रति वैनी आदि सदभावना भी होनी चाहिए।

“अहिंसा परमोधर्मः” स्मृति की इस उक्ति के अनुसार अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है। मोक्षार्थ में भी अहिंसा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा गया है —

1- अभ्यासवेराग्यभ्रंशवीर्यादयोऽपि यथायोग्येभ्यो स्वस्वतो नान्तरीयकत्वा चान्तर्भावयितव्याः । त. वै. पृ. 247.

2- अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमः । यो. सू. 2-30

3- द्रष्टव्य— यो. सा. सं. पृ. 61

4- उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलस्तत्तित्तिद्विपरिचर्यव तत्प्रतिपादनम् प्रतिपायन्ते । — यो. भा. सू. 2-30

"यथा नागमदेअन्या नि पदा नि पदगा मित्ताम् ।  
 सर्वाण्येवा पिधीयन्ते पदजाता नि कौन्जरे ।"  
 एवं सर्वमहिंसायां धार्थिकपि धीयते ।"

अहिंसा का भ्रंसा, बाधा, कर्मणा पालन योगसाधकों को करना चाहिए मन से भी किसी प्राणी का अनभीष्ट एवं अनिष्टचिंतन करना, वाणी से दूसरों को कठोर एवं अप्रिय शब्द कहना एवं शरीर से अशुभप्राणियों को मारना आदि हिंसा के ही चिन्तित रूप हैं । योगसाधक को इसके विरुद्ध अन्य प्राणियों के प्रति भेरी भावना रखना चाहिए । दूसरों को प्रिय ही ऐसा बोलना चाहिए ।

आचार्य कहते हैं कि भविष्य में देह न धारण करना पड़े द्वाी हेतु से योगिजन योगसाधना करते हैं । यथासंभव तथावर जंगम प्राणियों के प्रति अहिंसा भाव रखना चाहिए । उच्चकोटि के प्राणियों को पीड़ित नहीं करना चाहिए ।

मुनि ने पादप्रक्षेप से हुई अनिषण्य हिंसा के परिमार्जन के लिए 12 बार प्राणायाम करने का विधान किया है । इस प्रकार से योगसाधना में निरन योगियों के लिए भ्रंसा, बाधा, कर्मणा सर्वथा अहिंसा का पालन आवश्यक है ।

सत्य -- आचार्य सत्य के स्वरूप को मुष्ट करते हुए कहते हैं कि वही मन सत्य है जो कि प्रमाणों के द्वारा अत्यन्त विश्व का ग्रहण करे एवं प्रमाणों के द्वारा बाधित विश्व का ग्रहण न करे । इसी प्रकार से जो मन में है उसी का कर्मन एवं अशुभ वस्तु का न कहना ही

वाक्य सत्य है<sup>1</sup>।

दूतरोँ को कुछ बोध कराने के लिए जो वाणी प्रयुक्त हो वह श्रान्ति-पूर्ण न होकर सर्वथा श्रान्तिपूर्ण अथवा जिसमें कोई श्रान्ति उत्पन्न होने की आशाका न हो, ऐसी होनी चाहिए । जो वाणी श्रान्ति उत्पन्न करने वाले स्वबोधार्थ को छुपाने वाली स्वर् अरूप-टाक्षुक्त पदों में हो वह सत्य न होकर असत्य ही होती है<sup>2</sup>। इसी प्रकार महाभारत में युधिष्ठिर का द्रोगाचार्य के प्रति यह कथन "अवत्थामा हती, नरो वा कुंजरो वा" भी श्रान्ति उत्पन्न करने के कारण सत्य की श्रेणी में नहीं आता है ।

आरण्य के अनुसार यथार्थ होने पर भी वाक्य को दूतरोँ को पीड़ित करने के लिए प्रयोग में नहीं लाना चाहिए<sup>3</sup>। स्मृति में प्राचीनकाल से सत्य के सिद्ध में हमारी यह नीति रही है —

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेव धर्मः सनातनः ॥"

जाचार्य के अनुसार हिंसादि से दूधित पुण्याभासस्य सत्यकथन से क-ट-बहुत नरक ५ निरयं प्राप्त होता है<sup>4</sup> ।

1- यथाथे वा ब्रूयन्ते, प्रमाणप्राम्तिविध्याणां भिन्न भक्तोपादानं नाप्राम्तिस्तेति

यथा अर्थमनः, यन्मनसि ति श्रान्तिं तस्येवा भिधानं ना-न्यस्तेति यथा अर्थं वाक्का  
भा. पु. 248

2- सा वाग् यदि वैधित्वा=वैधनाय प्रयुक्ता, श्रान्ता=श्रान्तिजननाय सत्याद्यालनाय  
प्रयुक्ता, तथा प्रलित्तिबन्ध्या=अरूप-व-कैदैरुच्यमनत्वात् । भा. पु. 249

3- सप्त या वार्था अपि वाक्य न परोपधात्वय प्रयोक्तव्या । भा. पु. 249

4- हिंसादू धितं सत्यं पुण्याभासंभ्य, तेन पुण्यप्रतिष्पकेण पुण्यवत् प्रातीयकानेन  
सत्येन क-टं तमः क-टबहुतं निरयं प्राप्नुयात् । भा. पु. 250

सत्यवचन का अनादि काल से विशेष महत्व रहा है । सद्गुरुओं अथवा-  
 गुरुओं के पुण्य की तुलना में सत्यवचन का पुण्य कहीं अधिक बड़ा मना  
 गया है । "सत्येन पन्थाविल्लो देययानः" एवं "सत्येभ्य ज्यते नानृतम्"  
 आदि श्रुतिवाक्य सत्य के महात्म्य को प्रदर्शित करते हैं ।

सत्यसाधना का अभ्यास करने के लिए मौन का आश्रय लेना चाहिए ।  
 मौन शरीर-रत्न उपाय है । तत्परायण क्रमः अल्पभाषण करना चाहिए ।  
 क्योंकि जितना कम बोला जाएगा उतना ही असत्य भाषण की सम्भावना  
 भी कम रहेगी । अन्ततः केवल पारमार्थिक सत्य का ही चिन्तन करते रहना  
 चाहिए ।

अस्तेय -- "मुभ सतेये" धातु से स्तेय शब्द विभ्यन्त होता है । स्तेय का  
 अर्थ चोरी अथवा छुड़की करना है । स्तेय में "नञ्" प्रत्यय लगाने से अस्तेय  
 शब्द बनता है जिसका अर्थ है चोरी एवं परद्रव्य का ग्रहण करना ।  
 आरण्य के अनुसार केवल चोरी से घिरत होना ही अस्तेय नहीं है, वरन्  
 आह्वणीय वस्तु के प्रति स्पृहा का भी अभाव होना अस्तेय है<sup>1</sup> । अस्तेय भी  
 केवल कर्मणा नहीं होता है अर्थात् इन्द्रियों से ही परद्रव्य का आह्वण  
 अस्तेय नहीं है अपितु मन में भी परद्रव्य के प्रति कोई स्पृहा अथवा आसक्ति  
 का न होना ही अस्तेय है । इस प्रकार आरण्य अस्तेय की कल्पना और  
 भी सूक्ष्म रतर तक ले गये हैं । प्लेकानन्द ने राजयोग में अस्तेय की महत्ता  
 पर बले दैते हुए कहा है कि परद्रव्य अथवा उपहार ग्रहण करने वाले मनुष्य  
 के मन पर उपहार देने वाले व्यक्ति के मन का प्रभाव पड़ता है अतः उपहार

---

1- न हि धौर्यविरातिभात्रमस्तेयं किन्तु आह्वणीय विष्येऽस्पृहा त्वं

ऐसे वाले व्यक्ति के मन का अधःपतन होना संभावित रहता है । परद्रव्य का स्वीकरण मन की स्वतंत्रता को समाप्त कर देता है एवं उसे दास बना देता है । इसलिए उपहार स्वीकार नहीं करना चाहिए<sup>1</sup> । इस प्रकार योगसाधकों के लिए अस्तेय यम का पालन अत्यन्त आवश्यक है । श्रुति में भी "मा गुधः क्यस्विद्विनस" द्वारा अस्तेय का महात्म्य स्वीकार किया गया है ।

**ब्रह्मचर्य** — मनसा, वाचा, कर्मणा सकल परिस्थितियों में, सर्वत्र समस्त प्राणियों के प्रति भ्रूमन का सर्वथा अभाव ब्रह्मचर्य कहलाता है । भाष्य के अनुसार साधारणतया उपस्थ का संयम ही ब्रह्मचर्य है । परन्तु आचार्य के अनुसार केवल उपस्थ संयम ही ब्रह्मचर्य नहीं है अपितु स्मरण कीर्तनादि ब्रह्मचर्य के लक्षणों का भी सर्वथा अभाव ही ब्रह्मचर्य है<sup>2</sup> ।

बिना ब्रह्मचर्य के योगी को आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता है । इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है —

"तत्पेन सम्यक्तत्पसा त्येष आत्मा सम्यग्त्वानेन ब्रह्मचर्यपनित्यम्।"

ब्रह्मचर्य के आचरण एवं पालन के लिए मन को भौगविषयक संकल्पों से सर्वथा शून्य कर देना चाहिए एवं तत्पश्चात् उपस्थेन्द्रिय को मर्महीन कर देना चाहिए अर्थात् उपस्थेन्द्रिय के मर्म स्थान पर निष्क्रियता को भावना करना चाहिए । इस विधि से ब्रह्मचर्य की सिद्धि की जा सकती है ।

गिनार एवं अल्पन्द्रिा भी ब्रह्मचर्य में सहायक होते हैं ।

1- कर्मणा मन्सा वाचा सर्वभूलेषु सर्वदा । सर्वत्र भ्रूमनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रन्यक्षते ।  
यो. सा. सं. 62

2- रक्षिता नि संयतानि चक्षुरादीन्द्रियाणि येन तादृशस्य स्मरणकीर्तना-  
दिरहितस्य यमिन् उपस्थेन्द्रियसंयमो ब्रह्मचर्यम् । भा. पृ. 250

अमरिग्रह -- अमरिग्रह यह अन्तिम यम है । आचार्य के अनुसार द्रव्य के अर्जन एवं रक्षण दोनों से ही दुःख होता है । अतः शरीर की रक्षा के लिए जितना अत्यन्त आवश्यक है उससे अधिका संघ्य न करना ही अमरिग्रह है । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्थितिसूक्त का लक्षण करते हुए अत्यन्त सुन्दर रीति में समझया है --

"ध्यायतो विभयान्पुंसः संगस्तेभ्यजायते ।  
संगाद् सज्जायते कामः कामाद् क्रोधो म्जायते ॥  
क्रोधाद् भ्रंति सम्मोहःसंमोहाद् स्मृतिविभ्रमः ।  
स्मृतिभ्रंसाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशद् प्रपश्यति ॥"

विभय-चिन्तन से आसक्ति, आसक्ति से कामना, फिर कामनाः क्रोध, संमोह, स्मृतिविभ्रम एवं अन्ततः बुद्धिनाश हो जाता है । बुद्धिनाश से व्यक्ति मृत्प्राय हो जाता है । इस स्थिति से बचने के लिए मन में अमरिग्रह की भावना होनी चाहिए । विभयों के प्रति सर्वथा आसक्तिहीन होने से उनमें लोलुपता एवं उनके संघ्य की कामना नहीं उत्पन्न होती है । द्रव्य साक्षात् सांसारिक जनों के लिए भी दुःख हेतु होता है फिर यो गिजनों के लिए तो सर्वथा वर्ज्य ही है । द्वादश-परिचरितास्तोत्र में इस विषय में इस प्रकार कहा गया है --

"अभ्यन्तर्ध भव्य नित्यं नास्ति ततः सुख-लेश सत्यम् ।  
पुनरपि धनभाजां भीतिः सर्वेभ्यः विहिता रीतिः ॥"

---

1- अर्जनरक्षणादिभू दोषो दुःखं तद्दर्शनाद् देहरंध्र अतिरिक्तस्य  
विभयस्यास्वीकरणममरिग्रहः । भा. पू. 250.

अर्थात् धन अनर्थ का कारण है । उसमें किंचित भी सुख नहीं है । धनवानों को अपने पुत्र से भी भयभीत रहना पड़ता है । यही लौकरीति सर्वत्र पायी जाती है । इसलिये अपना सब कुछ दूसरों के लिये त्याग कर देना चाहिए । अपनी प्राणायाम के लिये जितना कुछ आवश्यक है उसी को ग्रहण करना चाहिए । इस प्रयोजन से शोध जो कुछ भी हो उसे संशय की किंचित भी इच्छा मन में न होना ही अपरिग्रह है । विद्वानभिक्षु ने संकटकालीन परिस्थितियों में भी किसी से इच्छापूर्वक उपहार ग्रहण का निषेध किया है<sup>1</sup>।

इस प्रकार अहिंसादि ये उपर्युक्त धर्म हैं । सामान्यरूपेण वर्णित इन धर्मों का महाप्रत के रूप में अनुष्ठान किया जाना चाहिए । जाति, देश, काल, समय आदि की सीमा से रहित प्रत्येक अवस्था में आचरण किये जाने पर ये धर्म महाप्रत कहलाते हैं<sup>2</sup>।

नियम — आचार्य योग में धर्मों के बाद नियम का स्थान है । शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय सर्व ईश्वर प्रणिधान ये नियम हैं<sup>3</sup>। योगसारसंग्रह में भी इन्होंने पांच को नियमों के अन्तर्गत संग्रहीत किया गया है —

तपः स्वाध्याय सन्तोषाः शौचमीश्वरपूजनम् ।

समासा न्निधमाः प्रौक्ता योगसिद्धिदायिनः ॥<sup>4</sup>

1- द्रव्याणामप्यनादान्दधपि यथेच्छया अपरिग्रह इत्युक्तवर्त प्रत्येनेन पालयेत् ॥

यो. सा. सं. पृ. 62

2- जातिदेशकाल सम्यानयच्छिन्नाः सार्वभौम्य महाप्रतसः । यो. सू. 2-31.

3- शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमः । यो. सू. 2-32.

4- द्रव्य- पा. सा. सं. पृ. 63.



नियमों में शौच सर्वप्रथम आता है। शौच का अर्थ है पवित्रता। यह शौच द्विविध होता है। स्नानादि कर्म, मृत्तिका से प्रक्षालन तथा शुद्ध आहार से ग्रहण से जो शारीरिक शुद्धि होती है वह बाह्य शौच है। शरीर एवं निवासस्थान को स्वच्छ रखना योगी का आचर्य है। आचार्य के अनुसार अशुद्ध पदार्थों का सर्वथा त्याग करना चाहिए<sup>1</sup> क्योंकि अशुद्ध पदार्थों के ग्रहण से चित्त मलिन हो जाता है। उच्छिष्ट, दुर्गन्धयुक्त एवं बासी पदार्थ एवं शकटि मादक पदार्थ सर्वथा वर्ज्य हैं, क्योंकि इनसे योगी चित्त को स्थिर करने में असमर्थ हो जाता है।

“अ बाह्याभ्यन्तरं शौचं दिधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ।

मुञ्जलाभ्यां भैशाह्यं मनः शुद्धिरभ्यन्तरम् ॥”

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के शौच योगी के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं परन्तु इन दोनों में भी आभ्यन्तर शौच योगसाधना की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। शिवकन्द ने राजयोग में कहा है कि आभ्यन्तर शौच के अभाव में बाह्य शौच व्यर्थ ही है<sup>2</sup>।

अलक्ष्य जीवन-निर्वाह के साधनों से अधिक साधनों की प्राप्ति की इच्छा का सर्वथा अभाव ही सन्तोष है<sup>3</sup>। आचार्य शान्तिपर्य से निम्न श्लोक उद्धृत करके सन्तोष का महात्म्य प्रदर्शित करते हैं —

“सर्वतः सम्पदस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् ।

उपानन्दगुह्यादस्य ननु घर्मावृत्तेय भूः ॥”

1- आदिशब्देनाग्नेयसंसर्गविवर्जनमपि ग्राह्यम् । भा.पु. 252.

2- सन्तोषःसन्निहितसाधनादधिक्यानुपादित्वा । यौ. भा. सू. 2232.

जो कुछ प्राप्त होता है उसी को पर्याप्त समझ कर उसमें लुब्ध रहने से सन्तोष नामक यम की सिद्धि होती है ।

आचार्य के अनुसार इन्द्रों से उत्पन्न दुःख को सहन करना ही तप है<sup>1</sup>। बुद्ध्या-पिपासा, शीत-उष्ण एवं खड़े होना और बैठना ये इन्द्र हैं । इन इन्द्रों से उत्पन्न दुःखों को सहन करने से शरीर का कष्ट सहिलग्न्यु बनना है एवं फिर उसे ये कष्ट विचलित नहीं करते हैं । बुद्ध्या-पिपासा आदि पर योगी का वश हो जाने से योगसाधना के सम्य यदि पिपासादि लगे तो योगी की साधना में क्लिप्त नहीं होता है क्योंकि उसका योगी के चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । इसी प्रकार काष्ठमौन एवं आकारमौन का भी आचरण करना चाहिए । आचार्य के अनुसार "सर्वक्लिप्तित्यागः" अर्थात् हठारो से भी अपने मन्तव्य को प्रकट न करना काष्ठमौन है । मुँह से कुछ भी न बोलना आकारमौन है । इन काष्ठमौन एवं आकारमौन के पालन करने से घृथा वा क्य तथा कठोर अप्रिय वचनों के कफ से बचा जा सकता है । साध ही सत्य नामक यम के आचरण में भी यह सहायक होता है ।

आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन एवं प्रणव का जप करना ही स्वाध्याय है । प्रणव के जप से चित्त सक्रम होने के कारण शीघ्र ही समाधि लाभ होता है । मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मस्य धरम उददेश्य की प्राप्ति के लिए आत्मा को शरत् प्रणव को धनुष बताया गया है ।

प्रणवो धनुः शरीरैह्यात्मा ब्रह्मलक्ष्यमुच्यते ।

अमलत्तैर्धनुष्यं शरवत्तन्मयो भवति ॥<sup>2</sup>

1- तपः इन्द्रजुःसहनसः । भा. पू. 253.

2- द्रष्टव्यः मुण्डकोपनिषद् — 2-2-4

इस प्रकार प्रणव के जप से चित्तशुद्धि होकर वह सकाग्र होता है ।  
आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से चित्त किषोरों के चिन्तन से पराङ्मुख हो  
जाता है, फलस्वरूप साधक को ध्यान धारणादि सरल हो जाते हैं ।

अन्तिम ईश्वरप्रणिधान है । भास्वती के अनुसार सभी कर्मों का  
निष्कारण भावना से सर्व फलकांक्षा से रहित होकर ईश्वर को समर्पण कर  
देना ही ईश्वरप्रणिधान है<sup>1</sup>। सभी कर्मों में अभिमान की भावना को त्या-  
कर "जो कुछ भी हो रहा है ईश्वर की ही प्रेरणा से है" इस प्रकार भी  
भावना को स्मरण करके अभिमानहीन होकर उसे परमगुरु ईश्वर को अर्पित  
कर देना चाहिए । ईश्वरार्पण के लिए कर्म में रत होते हुए भी ईश्वरस्मरण  
करना आवश्यक है क्योंकि ईश्वरस्मरण से ही अहं-भाव समाप्त होता है ।

कर्मों में ईश्वरार्पण के सम्बन्ध में गीता की यह परिकल्पना  
प्रसिद्ध है —

"कामतो अकामतो वापि यत्करो म्निगुभाशुभम् ।  
तत्सर्वं त्वयि सन्यतं त्वद्युक्तः कुरुम्यहं ॥"

भाष्यकार ने भी ईश्वरप्रणिधान के स्वस्व का विशद विवेचन  
करने के हेतु दो निम्न श्लोक उद्धृत किया है —

"अद्या अस्तन्तु वो अर्धं य धि ब्रह्म वा स्वस्वः परिक्षीणचित्तकजालः ।  
संसारबोज्ज्वलीक्ष्मापः स्यान्मित्युक्तोऽमुक्तभोगभागी ॥"

---

1- ईश्वरप्रणिधानम् ईश्वरे सर्वकर्मार्पणम् कर्मलाभित्तिन्धिगून्यता ।

भा. पृ. 253.



इन वितर्कों से बाधित न होने से अर्थात् इन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने से योगी की सिद्धि के प्रमाणस्वरूप यमनियमों के पालन से अन्य अनेक ऐश्वर्य उत्पन्न हो जाते हैं । अहिंसा के पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी के सान्निध्य में आने वाले सभी प्राणी धरमवशुन्ध हो जाते हैं<sup>१</sup>। वितर्कों का अप्रवधमित्व ही यमनियमों का प्रतिष्ठित होना है ।

सत्य के प्रतिष्ठित होने पर क्रियाफलाश्रयत्व नामक सिद्धि प्राप्त होती है<sup>२</sup>। जो भी वाणी से निकले, वह सत्य ही हो जाए, यही क्रिया-फलाश्रयत्व है । इस ऐश्वर्य के फलस्वरूप योगी अपनी इच्छा के द्वारा दूसरों को प्रभावित करके उनसे अपनी इच्छानुसार कार्य करा लेने में समर्थ हो जाता है । क्योंकि सत्य में प्रतिष्ठित योगी की वाणी अमोघ हो जाती है । आचार्य के अनुसार कृत्रिम आदेश के द्वारा अनेक रोगों का निवारण किया जा सकता है । आचार्य ने स्वयं कृत्रिम आदेश के परीक्षण किये हैं एवं स्वानुभव के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है । कृत्रिम आदेश के परीक्षण अनेक भारतीय योगियों ने किये हैं<sup>३</sup> ।

ऋतेय में प्रतिष्ठित योगी के सम्मुख सभी रत्न उपस्थित हो जाते हैं<sup>३</sup> । ऋतेय में प्रतिष्ठित योगी निष्पृहता की साक्षात् प्रति ही प्रतीत होता है । फलस्वरूप वह अत्यन्त विश्वासास्पद हो जाता है । इस कारण सभी प्रदेशों एवं देश के सभी भागों से आए हुए पर्यटक योगी को नाना विध रत्न उपहार-स्वरूप देते हैं ।

१- अहिंसा प्रतिष्ठायाम् तत्संनिधौ धरत्यागः । यो. सू. २-३५

२- सत्यप्रतिष्ठायाम् क्रियाफलाश्रयत्वम् । यो. सू. २-३६

३- ऋतेयप्रतिष्ठायाम् सर्वरत्नोपस्थानम् । यो. सू. २-३७.

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्यलाभ होता है<sup>1</sup>। वीर्यलाभ का अर्थ है शक्ति अथवा सामर्थ्य का चरमोत्कर्ष । आचार्य आरण्य के अनुसार ब्रह्मचर्य का पालन करने से शरीर रित्तोज हो जाता है । ब्रह्मचर्य से तारहानि रुक जाती है फलस्वरूप वीर्यलाभ होता है । वीर्यलाभ से अप्रतिहत गुणों का उत्कर्ष होता है एवं योगी को स्वज्ञान शिष्य में समाहित करने की शक्ति प्राप्त होती है ।

इस प्रकार ये अहिंसा दि पांच यमों में पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने पर यह उपर्युक्त सिद्धियां योगी को प्राप्त होती हैं ।

बाह्य शौच नामक नियम के पूर्ण प्रतिष्ठित होने पर अपने शरीर से जुगुप्सा अथवा घृणा होती है एवं अन्य प्राणियों के अंगों से संसर्ग की भावना का सर्वथा अभाव होता है<sup>2</sup>।

आरण्य के अनुसार आभ्यन्तर शौच से म्द, मान्, ईर्ष्या आदि के प्रक्षालन से सत्त्व शुद्धि होती है । इससे चित्त में सौमनस्य या आनन्द की भावना होती है । सौमनस्य से एकग्रता, एकग्रता से इन्द्रियव्ययता एवं अन्ततः आत्मदर्शन होता है ।

सन्तोष से निरतिशय सुख का लाभ होता है<sup>3</sup>। मुसुमृति में भी कहा गया है कि इहलोक में कामोपभोगजन्य सुख है एवं स्वर्ग का जो महान सुख है वह कृष्णाक्षयनित सुख के तोलहरे भाग के समान नहीं है<sup>4</sup>।

तप के द्वारा अशुद्धि के क्षीण होने पर कायेन्द्रिय तिद्र होती है<sup>5</sup>।

1- ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । यो. सू. 2-38.

2- शौचात् रसाईजुगुप्सा परित्तसर्गः । यो. सू. 2-40.

3- संतोषादनुत्तमुखलाभः । यो. सू. 2-42.

4- यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।

कृष्णाक्षयसुखं येत्ते नहितः श्रेयार्थं क्वचि ॥ \* सारिप्रति — ५ २

अणिम, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशिता एवं यन्त्रकामक्षादिता ये आठ कार्यसिद्धियां हैं। प्राप्ति, ज्ञातृ, त्दन, आदर्श, आस्वाद और चार्त्त ये इन्द्रिय सिद्धियां हैं।

स्वाध्याय के द्वारा इष्ट देवताओं के साथ सम्पर्क होता है<sup>1</sup>।

ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है<sup>2</sup>। ईश्वर प्रणिधान साक्षात् समाधि का हेतु है। प्रणिधान की भावना अत्यधिक प्रबल होकर शरीर के आसनस्थ एवं इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत कर देती है। यही प्रणिधान की भावना तब ध्यान एवं धारणा इन स्त्यों में परिपक्व होकर अन्ततः समाधिसिद्धि की साधिका बनती है।

यदि ईश्वरप्रणिधानसे ही समाधिसिद्धि होती है तो अन्य योगांगों का परिष्कृत व्यर्थ है। परन्तु इस शंका का निस्तन करते हुए भास्वती में आचार्य कहते हैं कि अन्य योगांग भी ईश्वरप्रणिधान में सहायक ही हैं। पांचों यम एवं नियमों से अशुद्धि का नाश होता है। तब से शरीर इन्द्र-सहिष्णु होता है। इन सबके आचरण से चित्त में ईश्वरप्रणिधान की भावना होती है।

यम नियमों में से किसी एक के नष्ट हो जाने पर सभी मूल नष्ट हो जाते हैं। आचार्य इस विषय में एक सुन्दर उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही छिद्र के होने से सम्पूर्ण घड़े का पानी गिर जाता है,

1- स्वाध्यायादिऽदेवता सम्प्रयोगः । यो. सू. 2-44.

2- समाधिसिद्धिरेश्वर प्रणिधानात् । यो. सू. 2-45.

उसी प्रकार एक ही यम या नियम के भंग होने पर पूर्ण महाप्रत ही भंग हो जाता है<sup>1</sup>। मूर्ध्नि भी इस विषय में प्रमाण है —

ब्रह्मचर्यगर्हिंसा च धमा शीघ्रं क्षो दमः ।

सन्तोषः सत्यमास्तिक्यं प्रताडंगनि विगोधतः ।

एकेमाप्यर्थहीनैर्ब्रतमस्य तु लुप्यते ।”

आसन — तिथर एवं सुखावह उपवेशन ही आसन है<sup>2</sup>। “आस्यते अैन इति कारणे ल्युट” इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न आसन शब्द का अर्थ है — शरीर का निश्चल, स्थायी एवं सुखद तिथति में रहना। आचार्य के अनुसार जब पदमासनादि तिथर एवं सुखावह होते हैं तभी वे योग के अंगभूत आसन कहलाते हैं<sup>3</sup>। गीता में भी आसन के सम्बन्ध में कहा गया है —

“समं कार्यं शिरोशीघ्रं धारयन्सं तिथरः ।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वयं दिशश्च, निश्चलं कथं ॥

प्रशान्तात्म धिगतभीब्रह्मवा रिप्रते तिथतः ।

मनः संयम्यमच्चित्तो युक्त आसीत् मत्थरः ॥” 6/12/13.

भूति के अनुसार भी सभी आसनों में भेदण्ड को सीधा रखना चाहिए जिससे वह, शीघ्र एवं शिर उन्नत एवं सग अवस्था में रहे<sup>4</sup>।

1- यथैकर मद्र पि छिद्राह पूर्णलो वा रिहीनो भवति, तथा अहिंसा अदिशीलाना-

रकतमस्यापि सम्यदा हितरं निर्वाया भवन्तोति । भा. पृ. 265

2- तिथरसुखभासनः । यो. सू. 2-46.

3- पदमासनादि यदा तिथरसुखं तिथरं सुखं सुखावहं यथासुखमित्यर्थः,

भवति तदा योगांगभासनं भवति । भा० पृ० 266-267.

4- निश्चलं स कस्य समं शरीरस्य । श्वेता० उप० अ० 2-8.



प्रत्यनर्शयित्व एवं अनन्तसमापत्ति के द्वारा आसन सिद्ध होता है<sup>1</sup>।

प्रत्यनेशयित्व का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि शरीर का वृत्तवत् स्थिति में पड़े रहना ही प्रत्यनर्शयित्व है<sup>2</sup>।

आचार्य के अनुसार आसन की सिद्धि के लिए प्रत्यनर्शयित्व के अतिरिक्त अनन्त में समापत्ति भी आवश्यक है। आचार्य ने अनन्त का अर्थ आकाशादिगत अनन्त्य में चित्त की तदाकाराकारिता यह किया है<sup>3</sup>। भरा शरीर शून्यवत् होकर अनन्त आकाश में सङ्कार हो गया है, में सर्वव्यापी अनन्त आकाश के स्वरूप हैं इस प्रकार की भावना ही अनन्त-समापत्ति है<sup>4</sup>।

पाचरूपति भिः, विज्ञानभिः, राघवानन्दः, तदाशिवेन्द्र सरस्वती एवं नागोजी भट्ट प्रकृति व्याख्याकारों ने सुश्रुणा अनन्त शब्द का अर्थ शोभाग किया है<sup>5</sup>। आरण्य का अभ्यास के रचानुभव पर अलम्बित मत यह कि अनन्त अर्थात् आकाश यही अर्थ ग्रहण कर प्रतीत होता है।

आसन जब होने से शीतोष्णादि उन्मत्त साधक को अभिभूत नहीं कर पाते हैं<sup>6</sup>।

1- प्रत्यनर्शयित्वानन्तसमापत्तिभ्याम् । यो. सू. 2-47.

2- वृत्तवत् स्थितिरेव प्रत्यनर्शयित्वम् । भा. पृ. 267.

3- जानन्त्ये परमहृत्ये वा समापन्नो भेदासनसिद्धये । भा. 267.

4- द्रष्टव्य- पार्तक-योग-दर्शन ४ हरि. आ. ४ पृ. 195.

5- अनन्तं वा नागनायके स्थितरूपेण तद्वत्स्थितं विश्वम्भरा मण्डौ, समापन्नं चित्तमासनं विवर्तयतीति । तद्वत् पृ 268.

6- ततो दन्दानभिधातः । यो. सू. 2-48.

प्राणायाम — आसनसिद्धि के पश्चात् श्वास एवं प्रश्वस की गति का रोकना ही प्राणायाम है<sup>1</sup>। आसनसिद्धि के बिना प्राणायाम नहीं हो सकता है एवं यदि आंगिकता हुआ भी तो उससे अनेक विकारों की आशंका होती है। अतः प्रथम आसनज्य करके तभी प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

बाह्य वायु को नासिकापुत्रों के मध्यम से ग्रहण करना श्वास कहलाता है। शरीरस्थ वायु का नासिकापुत्रों के द्वारा बाहर निकालना प्रश्वस अथवा उच्छ्वास कहलाता है। इन दोनों अर्थात् श्वास और प्रश्वस की गति का नियन्त्रण अर्थात् उभयाभाव ही प्राणायाम नामक चतुर्थ योगांग है।

यह प्राणायाम रोचक, पुरक एवं कुम्भक इन भेदों से त्रिविध होता है। यह त्रिविध प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा परिदृष्ट होता हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता है<sup>2</sup>। आचार्य इन भेदों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि रेचनपूर्वक वायु का बहिःस्रवण अर्थात् श्वासग्रहण न करना एवं इसके साथ ही चित्त को भी वन्य करना बाह्यवृत्ति प्राणायाम है<sup>3</sup>। आचार्य के अनुसार यह बाह्यवृत्ति प्राणायाम केवल रेचन मात्र ही नहीं है अपितु रेचकान्त निरोध स्वल्प है। इसको प्रमाणित करने के लिए आचार्य उद्धरण देते हैं —

“निक्राम्य नासाविवरावशोर्धं प्राणं बहिः शून्यमिवाभिलेखितम् ।

निस्त्य सन्तिष्ठति रूचायुः स रेचको नाम म्हाकिनरोधः ।”

जब श्वास और प्रश्वस की गतियों का अरोध पहले ही प्रयत्न से

1- तस्मिन् सति श्वासप्रश्वसयोगेति विच्छेदः प्राणायामः । यो. सू. 2-94

2- इच्छेद् बाह्याभ्यन्तररहस्यभृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । यो. सू. 2-50

3- यो वायोर्बहिरेवधारणं तत्र वायुधारणप्रयत्नेन तत्र चित्तस्यापि वन्यः स बाह्यवृत्तिः प्राणायामः । भा. पृ. 269

हो जाता है वह सतम्भूतिक प्राणायाम कहलाता है। भाष्य में इस प्राणायाम की तुलना तप्त प्रस्तर पर झले गये जल से की गयी है। अर्थात् जिस प्रकार तप्त हृत्पत्थर पर पड़ा जल सहज ही सब ओर से संकुचित हो जाता है उसी प्रकार से सतम्भूतिक प्राणायाम में श्वास और प्रश्वास दोनों का एक साथ ही अवरोध हो जाता है<sup>1</sup>। इसी को और अधिक सरल शब्दों में स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि जब रेचक और पूरक के प्रयत्नों की अपेक्षा न करते हुए केवल एक ही प्रकारक प्रयत्न के द्वारा श्वास-प्रश्वास की गति का अवरोध कर चित्त को ध्येय चिन्मय के साथ आच्छाद कर दिया जाए तो यह सतम्भूतिक प्राणायाम होता है<sup>2</sup>। विज्ञान के अनुसार अपने शरीर में भरी हुई प्राणवायु का नियन्त्रण करके पूर्ण कुम्भ के समान स्थिर रहने के कारण इस सतम्भूतिक प्राणायाम को कुम्भक भी कहते हैं<sup>3</sup>। आरण्य के अनुसार यह प्राणायाम न रेचक है न पूरक एवं न ही रेचकपूरक सहजारी कुम्भक। अपने मत् के समर्थन में आरण्य उद्धरण देते हैं —

“ न रेचको नैव न पूरकोऽत्र नासापुटं संतिष्ठत्येव वायुः ।

सुनिश्चितं धारयति क्रमेण कुम्भारण्यमेतद् प्रयच्छन्ति तत्राः । ।”

आचार्य ने त्रिविध प्राणायाम के लक्षणप्रसंग में “चित्तरोध” को प्रत्येक प्रकार के प्राणायाम के लिए अनिवार्य बताया है। उन्होंने चित्तरोध पर बल दिया है। अतः योग प्राणुष्येन चित्तनिरोध ही है, शरीरमात्र

1- यथा तप्ते-यत्तप्तमेत जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा-योर्गुणपद गत्यभाव इति ।

यो. सु. 2-50.

2- यत्र रेचनपूरणप्रयत्नमकृत्वा पूरपरचेने अनप्रेक्ष्यं यथाअवतिष्ठत्वायोसकृद् विषारण्य-  
प्रसत्नाद श्वासप्रश्वासगत्यभावस्तथा च चित्तस्य वायुधारण्यत्नेन सह

ध्येयचिन्मये बन्धः त एव तृतीयः सतम्भूतिकः प्राणायामः । भा. पू. 270.

3- स्वदेहे पूरितं वायुः नियुह्य विमन्वाति । तम्पूर्णं कुम्भकत्किञ्चै कुम्भकः

त हि विदुतः । योग सा. सं.

का निरोध नहीं। सम्यक् चित्तनिरोध होने पर स्वाभाविकत्वा ही शरीर-निरोध भी होता है परन्तु शरीरनिरोध होने पर चित्त-निरोध अनिवार्यतः ही, यह आवश्यक नहीं है। योगांगभूत प्राणायाम भी चित्त-निरोध का ही एक क्रमिक सोपान है। अतः प्राणायाम का अभ्यास करते समय चित्त को किसी ध्येय विरोध पर जाक करना अत्यन्त आवश्यक है। जैक जैसे उदाहरण हैं जिनमें व्यक्ति आठ या दस दिनों तक रुद्राणा अथवा में रह लेते हैं। कुछ व्यक्ति स्वेच्छा से अपने अंग विरोध को जकृत कर लेते हैं।

अपर्युक्त दे तीनों प्राणायाम देश-परिवृष्टि, काल-परिवृष्टि एवं संख्या-परिवृष्टि इन भेदों से विधि होते हैं। देश बाह्य एवं आध्यात्मिक-स्थेण विधि हैं। तासांग से श्वास की गति पर्यन्त बाह्यदेश एवं हृदय तक श्वास की गति आध्यात्मिक देश है। भाष्यकार के अनुसार "इत्ना इसका विषय है" इस प्रकार का परीक्षण ही देशपरिवृष्टि है। तात्पर्य यह है कि हृदयादि आध्यात्मिक एवं बाह्य देश इस सीमा तक श्वास प्रश्वास की गति एवं विधारण के द्वारा व्याप्त रहे। देश के परिभाग का परीक्षण ही देश परिवृष्टि है।

इसी प्रकार से "इत्ने समय तक यह प्राणायाम रहा" यह प्राणायाम का काल परिवर्शन है। निभेध्रिया का चतुर्थांग धण कहलाना है। धणों के द्वारा अविच्छिन्न श्वास, प्रश्वस एवं विधारण करना ही कालपरिवृष्टि प्राणायाम कहलाता है। उदधातक्रम से प्राणायाम का जो कालाच्छेद होता है, वह संख्या परिवर्शनपूर्वक प्राणायाम कहलाता है। उदधात के सम्बन्ध में विभिन्न व्याख्याकारों के विभिन्न मत प्रचलित हैं। किं कानन्द ने

राजयोग में उदघात का अर्थ कुण्डलिनी का जाग्रत होना होता किया है<sup>1</sup>। योगसिद्धान्त चन्द्रिका में उदघात का लक्षण करते हुए कहा गया है कि प्राणवायु के गतिछेद होने पर अपतवायु ना मिसूल से उबर जाकर शिरो-भाय से उकरता है। जमानवायु का यह उबर जाकर उकराना ही उदघात कहलाता है<sup>1</sup>। पित्तानभिध के अनुसार उदघात श्वासप्रश्वासरोधमत्र है। भोजराज के मत में श्वास-प्रश्वास रुद करने से उनके ग्रहण अथवा त्याग के लिए जो उद्वेग होता है वही उदघात है<sup>2</sup>।

आरण्य इन सब बातों का समालोचन करके अपनी समन्व्यात्मक प्रखर बुद्धि का परिचय देते हुए कहते हैं कि जितने समय तक श्वास अथवा प्रश्वास के रोध से वायु के त्याग या ग्रहण के लिए दवेग होता है, उतने समय तक का रोध ही उदघात है<sup>3</sup>। यह उदघात प्रायेण 12 मात्राओं वाला होता है। आचार्य उदघात के सम्बन्ध में तीन पुराण से उद्धरण देते हैं —

“नीचो द्वादशमरूतु सङ्घुदघ्यात ईरितः ।

मध्यमस्तु त्रिंशदात्रचतुर्विंशतिमात्रकः ॥”

अर्थात् द्वादश मात्रा वाला उदघात नीच, चौबीस मात्रा वाला उदघात मध्यम एवं 36 मात्राओं वाला उदघात उत्तम होता है। इसी उदघात के आधार पर प्राणायाम को क्रमाः सूदु, मध्य एवं तीव्र कहते हैं।

द्वैः श्वास प्रश्वास की सूक्ष्मता एवं विधारण का निरायास होना

1- प्राणैर्नोत्तर्धमणेन आनः पीड्यते यदा ।

गत्या चौर्ध्वं निर्धितं सत्सुक्ष्मलक्षणम् ॥ यो. ति. पु.

2- उदघातो नाम नाभिस्तात् प्रेरितकथ वायोः शिरस्यर्थाभ्यननम् । रा. भा. पु. 5।

3- श्वासाय प्रश्वासाय च य उद्वेगः स उदघातः । भा. पु. 271.

ही सूक्ष्म प्राणायाम है<sup>1</sup>। आचार्य के अनुसार ऐसा प्रश्वास जिसके द्वारा नासाग्र में रुई में भी स्पन्दन न हो, सूक्ष्म प्रश्वास होता है<sup>2</sup>।

प्राणायाम का एक और चतुर्थ प्रकार भी होता है<sup>3</sup>। यह भी एक प्रकार से स्तम्भसृष्टि ही है। लेकिन तृतीय एवं चतुर्थ प्रकार के प्राणायाम में स्पन्द भेद है। तृतीय प्रकार के प्राणायाम बिना किसी पूर्वाभ्यास के एवं देशादि का परीक्षण किये बिना ही श्वात्प्रश्वास गति का विच्छेद है। चतुर्थ केवल कुम्भक श्वास-प्रश्वास के देशादि परिदर्शन एवं अभ्यास करके एवं तत्प्रश्वास उनका अतिक्रमण करने से सिद्ध होता है। इस केवल कुम्भक में रेचक एवं पूरक की प्रित्कुरु भी आवश्यकता नहीं होती है। यह केवल कुम्भक सर्वोत्तम प्राणायाम है।

आचार्य ने प्राणायाम की सम्पूर्ण प्रक्रिया अत्यन्त सरल शब्दों में पार्तकल योगदर्शन में समझाई है<sup>4</sup>। सर्वप्रथम सुस्थिर आसन में आसीन होकर कक्षा स्थिर रख कर उदर संचालन के द्वारा श्वास प्रश्वास करते हैं। इस श्वास प्रश्वास के सम्यक् स्थल के अन्दर अर्थात् हृदय में शुभ्र संचयापी, अनन्त आकाश या शून्य की भावना करनी चाहिए। इसके लिए मन को शून्य बनाकर शून्य में ही रेचन एवं पूरण हो रहा है ऐसी भावना करनी चाहिए। क्रमशः बाह्यसृष्टि एवं आभ्यन्तरसृष्टि का अभ्यास करना चाहिए। बीच-बीच में स्तम्भसृष्टि का भी अभ्यास करना चाहिए। ओम्कार स्वाभाविक

1- स प्राणायाम स्वमभ्यहतो दीर्घकालव्यापी तत्र सूक्ष्मः सुसावित्वायुः

श्वासप्रश्वासयोः सूक्ष्मस्या सूक्ष्म इति । भा. पू. 272

2- द्रष्टव्य - पार्तकल-योगदर्शन ॥ हरि. आ. ॥ पृ. 201.

3- बाह्याभ्यन्तरविध्यासेपी चतुर्थः । यो. सू. —2-51.

4- पार्तकल-योगदर्शन ॥ हरि. आ. ॥ पृ. 202 से 204.

रेचक पूरण कर वाताशय में अल्पस्राव रहने के कारण एक बार ज्ञान-तरिक प्रयत्न से पुमपुस का संकोच करके श्वास प्रश्वास का नियन्त्रण करना चाहिए । इससे पुमपुस तथा संपूर्ण शरीर में सात्त्विक सुखमय बोध उत्पन्न होता है । इस सुखबोध के कारण बहुत काल तक इस स्थिति में रहना सम्भव होता है । स्तम्भ-भृत्ति के पश्चात् अनेक बार रेचन पूरण करना चाहिए । यह स्तम्भ-भृत्ति ही अन्ततः चतुर्दश अक्षर सर्वोत्कृष्ट प्राणायाम में रूपान्तरित होती है ।

प्राणायाम की साधना करने वालों को चेतावनी देते हुए आरण्य ऋते हैं कि प्राणायाम के नियमों का सम्यक् पालन न करने पर अनेक अनिष्ट हो सकते हैं यथा यत्किं मनसि क्लेशेण रुग्णं अथवा पागल भी हो सकता है । क्रमशः स्वस्थ एवं शारीरिक सामर्थ्य के अनुसार ही प्राणायाम करना चाहिए ।

प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश पर पड़ा हुआ आचरण क्षीण हो जाता है<sup>1</sup> । योगी के विवेकानन्द को आश्चर्यहित करने वाला कई संस्कारों का समूह प्राणायाम के अभ्यास से दुबल होकर क्रमशः प्रविक्षण क्षीण होता जाता है । इस संदर्भ में भाष्यकार उद्धरण देते हैं — "तमो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्भानां दीपितश्च ज्ञानस्येति ।" अर्थात् प्राणायाम से सर्वोच्च ज्ञान कोई तम नहीं है । इससे मलों की शुद्धि एवं ज्ञान की प्राप्ति होती है । आरण्य भी प्राणायाम के महात्म्य के लिए स्मृतिकथन को मानते हैं।--

इसके अतिरिक्त प्राणायाम के तत्त्व अभ्यास से धारणा करने में

1- ततः क्षीयते प्रशाशाचरणम् । यो. सू. 2-52

मन की सामर्थ्य होती है। अर्थात् मन धारण के योग्य हो जाता है। प्राणायाम में बाह्य अथवा आध्यात्मिक भावना चित्त को करनी पड़ती है। ऐसा अभ्यास करने से चित्त योगागमुख धारणा के लिए उपयुक्त एवं समर्थ बन जाता है।

प्रत्याहार — अर्थात् इन्द्रियों के विषयों के साथ सन्निकर्ष न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप का अनुकरण सा करना प्रत्याहार कहलाता है<sup>2</sup>। प्रत्याहार का शाब्दिक अर्थ — वापस लौटना अर्थात् इन्द्रियों को स्वविषयग्रहण से वापस लौटा कर लाना। इससे चित्त के निरुद्ध हो जाने पर इन्द्रियों का कार्य भी निरुद्ध हो जाता है। एवं चित्त एकाग्र मन से ध्यान करने के योग्य हो जाता है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियां स्वविषयों से विरुद्ध होकर चित्त के आकार को ही ग्रहण-सा कर लेती हैं अर्थात् जिस प्रकार चित्त बाह्य विषयों के ग्रहण से पराङ्मुख हो जाता है उसी प्रकार इन्द्रियां भी बाह्य विषयों को ग्रहण नहीं करती हैं<sup>3</sup>। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियां पूर्णतया चित्त के स्वाधीन हो जाती हैं एवं चित्त के निरुद्ध होने पर स्वयं भी निरुद्ध हो जाती हैं। चित्त एवं इन्द्रियों के इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए आचार्य शंकरानन्द ने एक सुन्दर उदाहरण देते हैं<sup>4</sup>। जब

1- धारणास्तु च योग्या धनसः । यो. सू. 2-53.

2- स्वविषयान्प्रयोगे चित्तस्वरूपाकार इन्द्रियाणां प्रत्याहारः । यो. सू. 2-54

3- चित्तनिरोधे भावः तर्हि मय सति उदर चित्तस्तस्यानुकाररूपेण इन्द्रियापि भवन्ति स एव प्रत्याहारः तदा चित्ते निरुद्ध इन्द्रियाद्यपि निरुद्धानि विषयानहीनानि भवन्ति । भा. पृ. 277

4- यथा मूकरानं भक्षिका उत्पन्नमुत्पत्तन्ति, निषिद्धामान्मगु निषिद्धन्ते, यथेन्द्रियापि चित्ता निरोधे निरुद्धानि, इत्येवं प्रत्याहारः । यो. भा. सू. 2-54



संस्कारों का नया ढाल बनाने के लिए स्थान का ध्यान करती हैं तो रानी मक्खी सबसे आगे रहकर मार्ग निर्देश करती है एवं अन्य सभी मक्खियाँ उस का अनुसरण करती हैं। इसी प्रकार से चित्त एवं इन्द्रियों का भी है कि चित्त के निरुद्ध होने पर सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। आशय यह है कि इन्द्रियों के इस प्रकार से निरुद्ध हो जाने से इन्द्रिय ज्ञ के लिए अन्य दूसरे उपायों का ध्यान नहीं करना पड़ता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण प्रत्याहार के विषय में कहते हैं—

“यदा संहरते घायं कूर्मो गानीयं सर्षपाः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।”

अर्थात् जिस प्रकार कृष्ण सब जोर से अपने अंगों का संकुचन कर लेता है, उसी प्रकार जब पुरुष अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से अलग कर लेता है, तब वह विशुद्धि कहा जाता है।

ध्यान एवं समाधि लाभ के लिए प्रत्याहार अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य के अनुसार प्रत्याहार सिद्धि के लिए बाह्य विषयों पर ध्यान न देना एवं मनसभाव लेकर रहना अनिवार्य है<sup>2</sup>।

इन्द्रियों के अरु प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने पर कर्म अधिकार प्राप्त हो जाता है<sup>3</sup>। इन्द्रियों की इस परमप्रयत्नता के सम्बन्ध में कुछ मतभेद विद्वानों में परिलक्षित होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि शब्दादि

1- द्रष्टव्य श्रीमद्भगवद्गीता § 2-58।

2- द्रष्टव्य— पातञ्जल-योगदर्शन - [हरि. आ. § ५. 206.

3- ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणीय । यो. सू. ५. 2-55

विषयों में आशक्ति न होना ही इन्द्रियज्य है । कुछ के मत में स्वेच्छा से इन्द्रियकृत भोग ही इन्द्रियज्य है । कुछ अन्य विद्वान विषयों के प्रति राग-भेषादि से शुन्यचित्त होकर विषयानुभव को ही इन्द्रियज्य मानते हैं । परन्तु आरण्य का मत है कि ये तीनों प्रकार के इन्द्रियज्य परमार्थ में विद्य-रूपेण हैं । इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य करते हैं कि जिस ने अग्नि के दाहकत्व गुण जो सम्बन्ध लिया है वह अनासक्तभाव से भी अग्नि का स्पर्श नहीं करेगा<sup>1</sup>।

जैसा उपर्युक्त है मत का अनुमोदन करते हुए आचार्य करते हैं कि चित्त की सकाशात्ता होने के कारण इन्द्रियों के विषयभोग का सर्वथा अभाव ही वास्तविक इन्द्रियज्य है । इस प्रकार का यह सर्वोत्कृष्ट इन्द्रियज्य प्रत्याहार का ही फल है ।

धारणा — चित्त का किसी देश में स्थापित होना ही धारणा है<sup>2</sup>। एक देश में स्थापन का अर्थ है चित्त को अन्य सब विषयों या स्थलों से हटा कर किसी एक स्थल में स्थिर करना । यही धारणा है ।

धारणा विविध होती है । नाभिचक्र, अनाधिचक्र, सात्त्विकाग्र, जिह्वाग्र, भ्रूमध्य, बाह्यरन्ध्र इत्यादि आत्पात्मिक देश कहे जाते हैं । इसी प्रकार आख्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त बाह्य प्रदेशों में चित्त का केवल सात्त्विकप्रकृति के द्वारा सम्बन्ध स्थापन करना ही धारणा है । आचार्य के अनुसार बाह्य विषयों के साथ चित्त का साक्षात् सम्पर्क न होने के कारण केवल ज्ञान के द्वारा चित्त को उनमें लगाना ही धारणा

1- द्रष्टव्य— पातञ्जलयोगदर्श— हरि. अ. प. 207.

2- देशबन्धविचलित्तस्य धारणा । यौ० सू० 3-1.

में अभिहित है<sup>1</sup>।

वैश्विक धारणा में बुद्धितत्त्व की धारणा एवं शब्द तथा च्योति की धारणा मुख्य है। शब्द धारणा में जनाहत नाद की धारणा मुख्य है। एवं गंधनाद, घंटा नाद, करतलनाद आदि ही जनाहत नाद के भेद हैं। आरण्य ने जनाहत नाद का विस्तृत स्पष्टीकरण एवं ज्ञानी तपस्वियों में कुण्डली के स्वल्प का भी सुन्दर विवेचन पार्तजलयोगदर्शन में किया है<sup>2</sup>।

ध्यान — विषय में ज्ञान की एकतानता ही ध्यान है<sup>3</sup>। अर्थात् धारणा के विषयभूत हृत्कम्लादि प्रदेश में ज्ञानवृत्ति का अभिन्न प्रवाह ही ध्यान है। आचार्य ध्यान की एकतानता की तुलना तेल की अञ्जु धारा से करते हुए कहते हैं कि तेल की धारा के समान ज्ञानवृत्ति का अविरल अञ्जु प्रवाह ही ध्यान है<sup>4</sup>। यह ज्ञानवृत्ति का प्रवाह अन्य वृत्तियों से मिश्रित नहीं होना चाहिये। धारणा एवं ध्यान का अंतर स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि धारणा में चित्त किसी एक प्रदेश में स्थापित हो जाता है। परन्तु यह ध्येय प्रदेश विषयक ज्ञान ब्रह्मत्वेण सदा धारावाहिक रूप से रहता है। परन्तु वही जब निरन्तर अभ्यास के द्वारा एकतान, अर्द्ध एवं अञ्जु धारा के समान हो जाता है तो ध्यान कहलाता है। एकतान प्रत्यय में केवल एक ही वृत्ति उदित रहती है। आचार्य के अनुसार धारणाज्ञान जलबिन्दु धारा के स्तृश एवं ध्यान का ज्ञान तैलधारा के स्तृश है। यही दोनों में अंतर है।

1- आह्वये तु देशे वृत्तिमात्रेण बन्धः तद्विषया वृत्त्या चित्तं बन्धते । भा. पू. 283.

2- द्रष्टव्य पार्तजल-योगदर्शन, पृ. 210 से 213 तक

3- तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । योऽ तू 3-2

4- धारणाव्यक्ते देशे ध्येयात्मकस्य प्रत्ययस्य वृत्तैर्वा एकतानता तैलधाराव्येकतानप्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापराभूतः अन्यथा वृत्त्या अभिभूतः प्रवाहस्तध्यानम् । भा. पू. 283.

पौर्वाभ्यास के आधार पर पहले धारणा होती है एवं तत्पश्चात् धारणा से बारम्बार अभ्यास के द्वारा ध्यान होता है। ईश्वरगीता में ध्यान की काल्पीय द्वादशधारणा पर्यन्त निर्धारित की गयी है — "ध्यानं द्वादशधारणां"। अर्थात् जितनी देर चित्त द्वादश बार धारणा करे उतनी देर यदि ज्ञानवृत्ति एकतान स्व से प्रवाहित हो तो वह ध्यान कहलाता है।

समाधि — केवल अधिमान को प्रवृत्त करने वाला अपने ज्ञानात्मक स्व से भी शून्य-ता ध्यान ही समाधि है<sup>1</sup>। अर्थात् समाधि एक प्रकार का ध्यान ही है, ध्यान से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। आचार्य के मत में जब ध्यान ध्येयाकारनिर्मात अर्थात् ध्येय के ज्ञान से व्यतिरिक्त अन्य ज्ञान से रहित तथा अपने ज्ञानात्मक एवं ग्रहणात्मक स्व से भी शून्य हो जाता है, तब वह समाधि कहलाता है<sup>2</sup>।

आरण्य के अनुसार समाधि यह शब्द परिभाषिक है एवं ध्यान के चरमोत्कर्ष का ही नाम समाधि है<sup>3</sup>। जब सतत ध्यान करते-करते आत्म-विक्रमण हो जाए एवं केवल ध्येय-विषयक सत्ता का ही ज्ञान हो तथा ध्येय से अपना अभिन्नत्व स्थापित हो जाए, ध्येय विषय पर उस प्रकार का चित्तस्थैर्य ही समाधि कहलाता है।

समाधि साधन के क्रमिक सोपानों का उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं

1- तदेवाधिमन्निर्मातं स्वस्वशून्यमिह समाधिः । यो. सू. 3-3

2- ध्यानोपमा यदा ध्येयाकारनिर्मातं ध्येयव्यवहृत्कान्धीभ्यु प्रत्ययात्प्रेत स्वस्वेषु शून्यमिह ध्येयविषयस्य प्रख्याती तद्विषय एवास्ति नात्पदं ग्रहणादि किंन्यदितीव ध्येयस्वभावव्यवहृत् भवति तदा तद्दधानं समाधिरित्युच्यते भा. पू. 284

3- पारिभाषिकार्थं समाधि शब्दो ध्येयविषये चित्तस्थैर्यस्य कौठावाचकः भा. पू. 284

कि समधि रूप इस चित्तस्वर्ध को प्राप्त करके गृहीत गृह्णा ग्राह्य विषयक सम्प्रज्ञान को सिद्ध करना चाहिए। इस सम्प्रज्ञान के सिद्ध होने पर सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। तब उस सम्प्रज्ञान के भी निरोध करने पर सर्ववृत्तिनिरोधरूपिणी असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में समाधि के विषय में कहा गया है — शान्तो यान्त उपरतस्तिष्ठः, समाहितो भूत्वा, आत्मन्येवात्मनं पश्यति ।” समाधि के बिना आत्मा आत्कर एवं परमार्थसिद्धि नहीं हो सकती। कठोपनिषद् में भी वर्णित है —

“ना विरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैव न्युयात ।”

विज्ञानभिक्षु के अनुसार द्वादश ध्यान पर्यन्त चित्त की स्थिरता से समाधि होती है<sup>2</sup>।

धारणा, ध्यान एवं समाधि ये तीनों योगसाधन के अन्तरंग कहे जाते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों एकत्र अर्थात् एक ही ब्रह्मब्रह्म-गति होने पर “संयम” कहे जाते हैं<sup>3</sup>। अतः इनकी सम्यक् स्थिति स्वयं शास्त्रीय परिभाषा संयम है<sup>4</sup>।

इस संयम जब से समाधिज्ञान का आलोक होता है<sup>5</sup>। संयम में जितनी

1- समाधिरूपिणं चित्तस्वर्धं लब्ध्वा गृहीतगृह्णाग्राह्यविषयकसम्प्रज्ञानं ताप्येतु तस्मिन् सिद्धे सम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति, ततः सम्प्रज्ञानस्यापि निरोधस्तु सर्ववृत्तिनिरोधरूपी असम्प्रज्ञातः समाधिः । भा. पू. 284

2- ध्यान द्वादशकं यावत्समाधिराप्स्यीयते । यो. ता. सं.

3- श्रवणसंयमः । यो. तू. 3-4

4- तदस्य श्रेयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति । यो. भा. 3-4 ।

5- तज्ज्ञानात्प्रज्ञानलोकः । यो. तू. 3-5

रि धरता होती है, समाधिज्ञा भी उतनीही अधिक निर्मल होती है । अर्थात् जितने सूक्ष्मतर विश्व में संयम किया जाता है, उतनी ही प्रज्ञा अधिक निर्मल होती है । उस संयम का भूमियों में विनियोग करना चाहिए<sup>1</sup> ।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार इन पाँचों की तुलना में धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग माने जाते हैं<sup>2</sup> क्योंकि इन तीनों के सिद्ध होने पर ही सम्प्रज्ञान होता है । फिर भी असम्प्रज्ञात समाधि के ये बहरंग ही कहे जाते हैं । असम्प्रज्ञान समाधि का अन्तरंग तो परवैराग्य होता है । उसके ये भी बहिरंग हैं<sup>3</sup> ।

इस प्रकार से अष्टांग योग की साधना से अज्ञानावरण का नाश एवं सम्प्रज्ञान तथा प्रज्ञालोक का उदय होता है । एवं तब क्रम से सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है ।

---

1- तस्य भूमिषु विनियोगः । यो. सू. 3-6

2- अयमन्तरंगभूषणैः । यो. सू. 3-7.

3- तदपि बहिरंगनिर्वाण्यम् । यो. सू. 3-8.

## परिणामवाद

सांख्य योग में सृष्टि की प्रक्रिया के प्रश्न को परिणामवाद के द्वारा सुलझाया गया है। परिणामवाद के अनुसार यह जगत् मूल प्रकृति का ही परिणाम जखन कार्य है। प्रकृति से क्रमाः महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियां, पंचतन्म-भारं एवं पंच म्हाभूत उत्पन्न होते हैं<sup>1</sup>। पंच म्हाभूतों तक हुए परिणामों को तत्पन्तर परिणाम कहते हैं क्योंकि इनमें कार्यकारणत्व में दोनों तत्त्वों का पृथक-पृथक अस्तित्व रहता है।

इस तत्पन्तर परिणाम के परचाय भी एक परिणाम होते हैं। इन परिणामों से धर्म के धर्मों में परिवर्तन होता है। ये भी परिणाम धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम एवं अक्षय परिणाम इस भेद से विविध हैं। सांख्य दर्शन के अतृप्त इन विविध परिणामों के अतिरिक्त योगदर्शन में चित्त के सभी विविध परिणाम माने गये हैं जो कि निरोध परिणाम समाधि परिणाम एवं सक्रमता परिणाम इन नामों से प्रसिद्ध हैं। योग की जिन अवस्थाओं में चित्त के ये परिणाम होते हैं इस प्रश्न को लेकर व्याख्याकारों में कुछ मतभेद है। आचार्य के अनुसार चित्त का सक्रमता परिणाम समाधि मात्र से होता है। चित्त का समाधि-परिणाम संप्रज्ञात योग की अवस्था में होता है एवं इसी प्रकार चित्त का निरोध परिणाम असंप्रज्ञात योग की अवस्था में होता है<sup>2</sup>। वाचस्पति मिश्र का भी यही मत है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार चित्त को वह अवस्था जब वह लघेय विषय के प्रति विक्षेपों के कारण पूर्णतः केन्द्रित नहीं हो पाता है

1- प्रकृतेः सृष्टिः सत्त्वाः अहंकारः तन्म-भारः पंचभूतानि । सां० का० 22.

2- इन्द्रिय-पात यो, दर्शन । हरि० भा० । पृ. 222.

चित्त का समधिपरिणाम है ।

द्वैतों से रहित होकर जब चित्त ध्येय आलम्बन पर केन्द्रित हो जाय तो वह सकाग्रता परिणाम है सर्व सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात विविध योग की द्वैत वृत्तियों से शून्य निरोधात्मक चित्त का निरोध परिणाम होता है । परन्तु निरोध परिणाम के विषय में विज्ञान सिद्ध का यह मत उचित नहीं है क्योंकि स प्रज्ञात योग की भूमि में चित्तवृत्ति कभी ही रहती है सर्व केवल निरोधात्मक अर्थात् असम्प्रज्ञात योग में ही वृत्तियों का त्यज होकर निरोध संस्कार अवशिष्ट रहते हैं ।

इसके अतिरिक्त भाष्यकार को भी यही अभिप्रेत है कि निरोध परिणाम के समय में चित्त निरोध संस्कार मात्र के रूप में अवशिष्ट रहता है<sup>1</sup>। अतः आचार्य का मत ही अधिक लचिकर एवं सम्प्राप्य है ।

आचार्य के अनुसार निरोधात्मक में प्रत्ययों का भाव होने के कारण निरोध परिणाम केवल संस्कारों का होता है<sup>2</sup>। समधि परिणाम प्रत्यय एवं संस्काररूप चित्तधर्म का होता है<sup>3</sup> एवं सकाग्रता परिणाम प्रत्ययरूप चित्तधर्म का होता है<sup>4</sup>।

भास्वती में चित्त के इन विविध परिणामों को क्रमानुसार तुन्दर रीति से समझाया गया है । इस परिणाम की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए

1- तदा संस्कारेषु चित्तमिति निरोधसमाधौ प्याख्यातम् । यो. भा. सू. 3-9

2- निरोधे प्रत्ययाभावात् संस्कारधर्माणेषां परिणाम सकस्य धर्मविद्यत्स्येति ।  
भा. पू. 291

3- अत्र प्रत्ययधर्मणां संस्कारधर्मणान्वयान्यथाभावः । भा. पू. 292

4- अस्मिन् प्रत्ययधर्मणान्वयान्यथाभावः । भा. पू. 293.



आचार्य कहते हैं कि पहले चित्तदृश प्रत्ययों का सद्गतीकरण होकर सकाग्रता परिणाम होता है तब सर्वाधीनत्व प्रत्ययों के संस्कार क्षीण हो जाते हैं एवं सकाग्रतास्य प्रत्ययों के संस्कार प्रबल होते हैं फलस्वरूप चित्त का समाधि परिणाम होता है। अन्त में विवेकव्याप्ति होने से परद्रोशय के अभ्यास होने पर योगी जब चित्त को निष्कल कर लेता है तब वह चित्त का निरोध परिणाम होता है<sup>1</sup>।

इन विविध परिणामों में से चित्त के सकाग्रता परिणाम को सूत्रकार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि चित्त में समानत्व से ज्ञानों का शान्त और उदित होते रहना चित्त का सकाग्रता परिणाम है<sup>2</sup>।

चित्त में अनेकग्रता का तिरोभूत होना स्व सकाग्रता का प्रादुर्भाव होना चित्त का समाधि परिणाम है<sup>3</sup>। सकाग्रता एवं अनेकग्रता दोनों ही चित्त के धर्म हैं।

चित्त स्तयं में होने वाले धर्मों अर्थात् सर्वाधीनता का तिरोभाव एवं सकाग्रता का प्रादुर्भाव इनसे युक्त होकर समाहित होता है। यही चित्त का समाधि परिणाम कहलाता है।

- गुण पदार्थ का जो आश्रयभूत है वही धर्म है। यद् यद् ज्ञातगुण

1- तत्रादौ चित्तदृशप्रत्ययानां सद्गतीकरणं तादृश सकाग्रतापरिणामस्यः समाधिस्थितिः, ततः समाधिस्थितकाराधानात् सर्वाधीनत्वात् ये प्रत्ययसंस्कारास्ते क्षीयन्ते, सकाग्रता व्यास्य प्रत्यय संस्कारा वर्धन्ते, ततः पुनर्निरोधप्रतिलम्बे निरोधसंस्कारः प्रचीयते, व्युत्थानसंस्कारा क्षीयन्ते, एवं चित्तस्य परिणामः मो. पू. 293.

2- ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययो चित्तस्येकाग्रतापरिणामः. यो. सू. 3-12

3- सर्वाधीनतास्योदयो चित्तस्य समाधिपरिणामः। यो. सू. 3-11.

अथवा अभिव्यक्त स्वरूप का होने के कारण धर्म एवं मूर्त्तिका इस मट का आश्रय अथवा आधारभूत द्रव्य होने के कारण धर्मी है<sup>1</sup>। धर्मी को उत्पन्न करने के लिए धर्मी में जो विप्रिया होती है, वही भास्वती के अनुसार धर्म परिणाम है<sup>2</sup>।

यहाँ पर यह भ्रम उल्लेखनीय है कि धर्मी में धर्म परिणाम के द्वारा भावान्यथात्व ही होता है, द्रव्यान्यथात्व नहीं<sup>3</sup>। अर्थात् धर्मी मूर्त्तिका का स्वस्मयः नाश नहीं होता है। इत्यादि रूप में परिणाम होने पर भी मूर्त्तिका, मूर्त्तिका ही रहती है। अन्य कोई दूसरा द्रव्य नहीं हो जाती। आचार्य ह्यी को सरल भाषाओं में कहते हैं कि भावान्यथात्व का अर्थ है धर्मी घट अतीत होकर धर्मस्मयत् वर्तमान में अभिव्यक्त हो जाता है—धर्मी का नाश नहीं होता है। यही धर्मी का भावान्यथात्व है।

बीजों के आदेश का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि बीजों का धर्मी में कूटस्थ नित्यता का आदेश करना अशुचित है क्योंकि सांख्ययोग में केवल पुंस्व को ही कूटस्थ नित्य माना गया है। पुंस्व के अतिरिक्त सभी तत्त्व परिणामशीलता के कारण कूटस्थ नित्य नहीं हैं<sup>4</sup>। इस प्रसंग में आचार्य स्पष्ट करते हैं कि ये धर्मी सक्रान्त अनित्य भी नहीं हैं परिणाम प्रक्रिया में धर्मी जो अतीतवस्था में अव्यक्त हो जाता है उसके आधार पर धर्मी को शब्दप्रसंग अथवा आकाशकुसुम के समान सक्रान्त

1- धर्मज्ञात्पुणः धर्मी ज्ञात्पुणानामाश्रयः, कारणस्य धर्मः कार्यस्य धर्मी, अतो धर्मी धर्मिस्वस्वमात्रः घटत्वादिधर्मस्तत्त्वमिदृत्स्वस्वमा एतेत्यर्थः भा.पृ. 297.

2- धर्मिणो विप्रिया परिणामः । भा.पृ. 297.

3- धर्मिणि वर्तमानस्य धर्मस्य निवृत्तव्यु भावान्यथात्वस्य अन्तःशान्त्यत्वस्य भवति न द्रव्यान्यथात्वस्य सक्रान्त एव धर्मी अतीतो अनागतो वा वर्तमानो वा भवतीत्यर्थः । भा.पृ. 298.

4- अतिशयोक्ति—दृश्यद्रव्यं परिणामनित्यं न कूटस्थनित्यम् ।

अनित्य भी नहीं प्रतिपादित किया जा सकता है। केवल नित्य हीना ही कूटस्थता की कसौटी नहीं है क्योंकि प्रकृति नित्य है परन्तु फिर भी कूटस्थ नहीं है। अरिणामी नित्य ही कूटस्थ होता है जो कि पुरुष से व्यतिरिक्त अन्य नहीं है। नित्य प्रकृति भी विर्म वैचित्य के कारण विकारशील है। विज्ञानभिक्षु ने विर्म वैचित्य का अर्थ कूटस्थ से केवलण्य माना है। आचार्य के अनुसार भिक्षु के इस अर्थ में अतिरिक्त विर्म वैचित्य का एक और भी अर्थ हो सकता है। यह है गुणों की -युनाधिकता के कारण पारस्परिक अभिभाष्य अभिव्यापकतास्य वैचित्य अथवा नानात्व। मूल प्रकृति ही नित्य है।

लक्षण परिणाम — काल ही को योगदर्शन में "लक्षण" कहते हैं। आचार्य के अनुसार लक्षण परिणाम के द्वारा एक काल की वस्तु का दूसरे काल की वस्तु से भेद लक्षित होता है<sup>1</sup>। अर्थात् वर्तमानादि कालविशिष्ट धर्म का वर्तमानादिलक्षण को त्याग कर अतीत अथवा आगत लक्षण का ग्रहण करना ही धर्म का लक्षण परिणाम है। कालभेद की दृष्टि से लक्षण परिणाम भी त्रिविध हैं। अनागत लक्षण-परिणाम, वर्तमान लक्षण परिणाम एवं अतीत लक्षण परिणाम।

चित्त के निरोध परिणाम के संदर्भ में धर्म चित्त में अनागत आस्था के निरोध संस्कारों का अपनी अनागतावस्था त्यागते हुए वर्तमानावस्था प्राप्त करना लक्षण परिणाम है<sup>2</sup>।

1- लक्षण परिणामः— लक्षणं कालः, अनागतलक्षणं वर्तमानकालेन चित्त्वा यद् धैर्यमनसः । भा. पू. 2५५.

2- अनागतं निरोधोऽनागतलक्षणं अन्वयानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनं त्रिकालतः प्राप्तं यो निरोधोऽनागतो धर्म आतीतं स एव वर्तमानधर्मो भू इत्यर्थः । भा. पू. 2५५.

धर्म परिणाम एवं लक्षण परिणाम इन दोनों के अधिकरण में भेद है । धर्म परिणाम का अधिकरण धर्मों एवं लक्षण परिणाम का अधिकरण धर्म होता है । लौकिक उदाहरण के अनुसार धर्म परिणाम के द्वारा धर्मों की मूर्तिका में परिणाम होता है एवं लक्षण परिणाम के द्वारा धर्म घट में परिणाम होता है । आचार्य के अनुसार धर्मों का परिणाम धर्म के अन्यथात्त्व के द्वारा कहा जाता है<sup>1</sup> । इसी प्रकार धर्म का परिणाम लक्षण के अन्यथात्त्व के द्वारा सूचित होता है ।

धर्म परिणाम के समान ही लक्षण परिणाम के द्वारा भी धर्म नष्ट नहीं होता है । लक्षण परिणाम के संदर्भ में भाष्यकार ने इसी को स्पष्ट करने के लिए "धर्मत्वमनिक्रान्त" यह कहा है<sup>2</sup> ।

उल्लेखनीय है कि निश्चित लक्षण परिणाम अविमुक्त रह कर भी अहसांकर्म दोष से रहित है । भाष्यकार इसी को समझते हैं कि क्रोधभाव के अभिव्यक्ति काल में राग की अभिव्यक्ति न होने के कारण चित्त को रागशून्य नहीं कहा जा सकता है क्योंकि क्रोध शांत होने के पश्चात् पुनः रागभाव अभिव्यक्त हो जाता है । सांकर्म दोष के निरसन प्रसंग में आचार्य दृष्टान्त देते हैं कि "मेरे श्रुतः पिता जी धे " इसमें अवर्तमान पदार्थ के साथ अतीत अहसा का संयोग हुआ है, इसी सांकर्म करना अनुचित है क्योंकि यहाँ पर भी वर्तमान स्मृति के साथ अतीत अहसा

1- तत्र धर्मपरिणामः धर्मणामन्यथात्वस्य । भा. पृ. 294.

2- स अहसाणागतलक्षणमहसावर्तमानं प्रकर्म हित्वा धर्मत्वमनिक्रान्तो वर्तमानं

लक्षणं प्रतिशन्नो यत्रत्य स्वरूपेषां भिव्यक्तिः । यो. भा. सू. - 3-13.

का योग होता है<sup>1</sup>।

अवस्था परिणाम — एक ही काल के अन्तर्गत होने वाले परिणामों को अवस्था परिणाम कहते हैं। अवस्था परिणाम की ही सहायता से लक्षण परिणाम के द्वारा धर्म का एक काल से दूसरे काल में परिणाम होता है। यह अवस्था परिणाम भी धर्म से ही हुआ करता है। अवस्था परिणाम को सम्झते हुए आचार्य कहते हैं कि एक ही हीरा नया और कुछ समय के पश्चात् पुराना कहा जाता है। यहां पर एक ही हीरा स्वर्तमान धर्म में पुराना और नया इस भाव में भेद किया जाता है। इसी प्रकार घट जो वर्ष भर वर्तमान लक्षण में रहता है, वह भी नया, कम नया, नाम मात्र का नया, पुराना, जर्जर इत्यादि रूपों में हुआ जीर्ण अवस्था परिणाम है।

इसी प्रकार संसा की सभी वस्तुओं में अवस्था परिणाम होता रहता है। चित्त के विरोध परिणाम के संदर्भ में निरोध संस्कारों का अवस्था परिणाम व्युत्थान संस्कारों की दुर्बलता एवं निरोध संस्कारों की प्रबलता इन रूपों में हमें श्रांत होता है। अवस्था परिणाम का ज्ञान धर्म परिणाम के सदृश प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होता है प्रत्युत उसका अनुमान किया जाता है<sup>2</sup>। आचार्य के अनुसार धर्म परिणाम एवं लक्षण परिणाम से अवस्था परिणाम का यह वैशिष्ट्य है कि धर्म एवं काल की भेद की

1 - द्रष्टव्य—पात०यो० दर्शन § हरि०भा० § पृ० 234

2- धर्म परिणाम इवाक् अवस्था परिणामे प्रतिक्षणक्रमेण न प्रत्यक्षीक्रियते इति तन्मुमात्रेण साध्यति । यो० भा० पृ० 315

विषया न होने पर भी अवस्था की उपाया से जो भेद कथन किया जाता है वह अवस्था परिणाम कहलाता है<sup>1</sup>।

भाष्यकार का कथन है कि पारमार्थिक दृष्टि से वस्तुतः परिणाम एक ही है<sup>2</sup>। यह कथन वास्तविक है। अपने मत के समर्थन में वे कहते हैं कि धर्म एवं लक्षणा दोनों परिणामों से एक विशिष्ट अवस्था का ही ज्ञान होता है। अतः अवस्था परिणाम में दोनों ही परिणामों का अन्तर्भाव हो जाता है।

वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु एवं आरण्य ने धर्मपरिणाम को ही वास्तविक माना है। आरण्य का कथन है कि धर्म परिणाम ही एकमात्र यथार्थ है अन्य दोनों कात्यनिक हैं<sup>3</sup>। अपने मत के समर्थन में उनका कहना है कि धर्म धर्मो रूप ही होता है, अन्य दूसरा कोई तत्त्व नहीं।

त्रिगुणारम्भक प्रकृति के गुणों में वैभ्य होने से महदादि परिणाम होता है। इसी धर्मदि त्रिविध परिणाम के फलरूप यह समस्त चराचराल जगत अपने नाना रूपों के साथ अस्तित्वयुक्त होता है। अवस्थित द्रव्य के पूर्व धर्म की निवृत्ति होकर अन्य धर्म की उत्पत्ति ही परिणाम है<sup>4</sup>।

1- धर्मलक्षणाभ्यां विशिष्टः धर्मलक्षणैश्च विषया अस्तत्वेऽपि तदगो यदवस्था-  
पेक्षया भेदवचनं त तृतीयोऽयं परिणामः । भा. पृ. 316.

2- परमार्थस्त्वेक एव परिणामः । यो० भा० सू० 3-13.

3- यथा अर्थत एक एव धर्मपरिणामोऽस्त्यन्यौ कात्यनिकौ । भा. पृ. 297.

4- अवस्थि कस्य द्रव्यस्य भूविधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तितः परिणामः ।

यो. भा. पृ. 313.

### धर्मिष्ठ समाधि

विकल्प्याति में भी चौतराग योगी को सर्वथा विकल्प्याति होने से धर्मिष्ठ समाधि लेती है इसी स्थिति को धर्मिष्ठ समाधि कहते हैं<sup>1</sup>। विकल्प्याति के फलस्वरूप योगी को सार्वज्ञसिद्धि लाभ होता है। धर्म, समाधि के लिए इस सिद्धि के प्रति औदासीन्य आवश्यक है। जिस प्रकार भेष क्ल-वर्धा करते हैं उसी प्रकार धर्मिष्ठ समाधि ज्ञेया कर्मादि के उन्मूलक धर्म की अविरल वर्धा करती है<sup>2</sup>।

पार्तजलिरहस्यकार राघवानन्द सरस्वती के अनुसार धर्मिष्ठ समाधि ही परधैराग्य है किन्तु यह मत उचित नहीं है<sup>3</sup>। दोनों अवस्थाओं में बहुत अन्तर है। परधैराग्य में योगी को विकल्प्याति से भी धैराग्य हो जाता है जबकि धर्मिष्ठ समाधि में विकल्प्याति से उत्पन्न सार्वज्ञत्वादि सिद्धि से धैराग्य होता है एवं विकल्प्याति अविरल बनी रहती है। परधैराग्य में योगी विकल्प्याति का भी निरोध करता है परंतु धर्मिष्ठ समाधि में योगी को गिरन्तर विकल्प्याति बनी रहती है। सम्प्रज्ञात समाधि का अंतिम सोपान ही धर्मिष्ठ समाधि है।

धर्मिष्ठ समाधि के द्वारा अविद्याअस्मितादि सभी ज्ञेशो का समूल से नाश हो जाता है। पुण्य एवं पाप सभी प्रकार के कर्माशय पूर्णतया बन्द हो जाते हैं। ज्ञानादि ज्ञेया ही जन्म के कारण हैं

1- प्रसंख्यानैःअभ्ययुक्तौदस्य सर्वथा विकल्प्याते धर्मिष्ठसमाधिः यो. सू. 4-29.

2- ज्ञेशकर्मादीनां निःशेषणोन्मूलकं धर्मं भेदति धर्मतीति धर्मिष्ठः। यो. वा. सू. 4

3- ततो धर्मिष्ठः समाधि परधैराग्यं त्याज्यं तदा व्युत्थानसंज्ञं कारकत्वात् प्रत्ययान्तराणि तोत्पद्यन्ते। — पार्तजलिरहस्य, पृ. 446.

अतः उनका नाश हो जाने पर योगी जीवित रहते हुए भी विमुक्त हो जाता है। इस अवस्था में प्रारब्ध संस्कारों के अतिरिक्त अन्य सभी संस्कारों का दाह हो जाता है। इस दशा में योगिजन जो भी कार्य करते हैं यह इच्छानुसार निर्माणचित्त के द्वारा करते हैं।

विवेकव्याप्ति के पश्चात् सर्व पूर्ण निरोध के मध्य की दशा ही जीवनमुक्तावस्था है। कर्मनिवृत्ति के कारण उनका पुनर्जन्म नहीं होता है। सर्व वे प्रारब्ध कर्म संस्कारों के फलोपभोग करते हुए उनके भी निरुद्ध हो जाने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। आचार्य इसको स्पष्ट करते हुए उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार तेल का दिया और अधिक तेल न डालने पर धीरे-धीरे बुझ जाता है उसी प्रकार अन्य नवीन संस्कार न बनने के कारण योगी का भी पुनर्जन्म नहीं होता है।

धर्मिक समाधि के उदय होने से सम्प्रतक्त्वादि आवरणों से हीन होने के कारण शुद्ध ज्ञान अत्यन्त सर्व शैथिल्य अथात्व हो जाता है। रज्जु सर्व तमस वृत्तियाँ ही सत्तात्मक ज्ञान के लिए आवरण के समान हैं रज्जु एवं तमस के कारण साधारणजनों को ज्ञान की अन्तता का आभास ही नहीं हो पाता। पर जब विवेकव्याप्ति के द्वारा राज्जु एवं तमस वृत्तियों का पूर्ण निरोध सर्व सात्त्विक वृत्ति का उदय होता है तब योगी को ज्ञान के विराट् स्वरूप का साक्षात्कार होता है, क्योंकि ज्ञान-सौम्य को सीमित करने वाले तथा रज्जु एवं तमस से उत्पन्न अर्थ

1- समाधेः क्षीण विपर्ययस्य विवेकव्याप्तिस्य जन्मात्मबन्धनाद देहेन्द्रियाभिमानवशादेव जातिवृत्तभाषान्न पुनरावृत्तिः ।

भा. पु. 446.



सर्व नांचल्य दोषों से हीन होने पर ज्ञान शक्ति असीमित हो जाती है । फलरूप ज्ञान भी अपरिमित हो जाता है । अनन्तज्ञानयुक्त योगी के लिए शोध पदार्थ केवल नाममात्र के लिए अर्थात् अति स्वल्पमात्र में ही रह जाता है । योगवर्तिककार ने इस स्थल पर बौद्धों का उपहास किया है— यह दर्शन का प्रयास किया गया है<sup>1</sup> । परन्तु उनका मत युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि बौद्ध दर्शन में भी ज्ञान के अनन्तत्व को मान्य किया गया है ।

इस धर्मिय समाधि से निःस्पृह गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है । जात्यादि कर्मफल के योग से वैराग्य होने पर भोग समाप्त हो जाते हैं तथा पुरुष तत्त्व के अवधारण से अमर्ष निःपन्न हो जाता है । कुतकृत्य अर्थात् गुणों के चरित्त धिक्कर हो जाने पर भोगापवर्ग स्वरूप परिणामक्रम का नाश हो जाता है<sup>2</sup> ।

योग साधना की दृष्टि से धर्मिय समाधि का विशेष महत्त्व है । यह सम्प्रज्ञात सर्व असम्प्रज्ञात समाधि के मध्य कड़ी के समान है । धर्म-समाधि के शीघ्र ही पश्चात् परवैराग्य सर्व तत्फलरूप असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है । वैशकर्मदि की निवृत्ति, ज्ञान का अनन्तदर्शन सर्व गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति ये तीन धर्मिय समाधि के मुख्य फल हैं ।

1- सतादृशं संक्षिप्तं लोकेऽतीवाश्चर्यमन्धमणिचेधा दि विदति बौद्धोपहासमुजेन दर्शयति । यो. भा. पृ. 448.

2- ततः कुतार्थनां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानां । यो. सू. 4-32.

### केवल्य

पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थ के चारों पादों में केवल्य का विवेचन किया है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि चारों सूत्रों में एक ही विषय की पुनरुक्ति मात्र है। केवल्य के स्वल्प को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार पतञ्जलि कहते हैं कि भोगापवर्गादि स्त्री पुरुषार्थ से रहित सत्त्वादि तीनों गुणों का अव्यक्त प्रधान में विलीन हो जाना अर्थात् पुरुष का अपने स्वल्प में प्रतिष्ठित हो जाना ही केवल्य है<sup>1</sup>।

योगदर्शन की मान्यता के अनुसार सत्य, रजस एवं तमस्य ये तीनों गुण पुरुष के भोग एवं मोक्ष सम्बन्धी प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही प्रवृत्त होते हैं। ये त्रिगुण बुद्धि के माध्यम से सर्वप्रथम पुरुष के समक्ष विक्षोभभोग उपस्थित करते हैं। पुरुष के योग सम्पादनार्थ ही ये त्रिगुण शरीर, इन्द्रिय एवं बुद्धि आदि स्त्रियों में परिणत होते हैं। भोग के सम्पादन के पश्चात् त्रिगुणों का कार्य पुरुष को मोक्ष संपादित करना है। बुद्धि पुरुष के समक्ष औषाधिक्येण भोग प्रस्तुत करता है। बुद्धि से अपने को अभिन्न मान कर पुरुष बुद्धि के सुत-दुखादि धर्मों को स्वयं अपना ही समझने लगता है। पुरुष के कर््यों के स्वयं अपना मान कर अपने को ही कर्ता भी क्ता इस सम्बन्ध में मानने लगता है। बुद्धि के इस प्रतिबिम्ब के ही कारण उपहित पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठ अर्थात् शुद्ध नहीं रह पाता है। इस अवस्था में पुरुष और बुद्धिवृत्तियों में सारूप्य रहता है<sup>2</sup>। पुरुष

1- पुरुषार्थानुन्यानाः गुणानां प्रतिप्रसवः केवल्यं स्वल्पप्रतिष्ठा वा

चि त्तिशक्तिरिति । यो. सू. 4-34.

2- वृत्तिसारूप्यमितरत्र । यो. सू. 1-4.

की बुद्धिप्रतिबन्धनता का कारण पुरुष और बुद्धि का अनाधि सम्बन्ध ही है<sup>1</sup>। यही अनाधि सम्बन्ध पुरुष का बन्ध है। पुरुष के इस औपचारिक स्वस्व की सार्वकालिक एवं शाश्वतिक निवृत्ति ही केवल्य है।

वाचस्पति मित्र एवं विज्ञानभिक्षु के अनुसार केवल्य दो प्रकार के हैं गुणों की दृष्टि एवं पुरुष की दृष्टि से परन्तु व्युत्पत्तः केवल्य एक ही है और यह प्रकृति का है, पुरुष ब्रह्मे का केवल्य तो औपचारिक है। केवल्य के स्वस्व को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि चरिताधिकार गुणों का अपने-अपने कारणों में प्रतिलोभ परिणाम के द्वारा प्रतिद्रव्य हो जाना ही केवल्य है<sup>2</sup>। अपने ही स्व में पुरुष का स्तैव प्रतिष्ठित रहना अर्थात् बुद्धि से तत्त्व से अश्लेष बन्ध होने की सम्भावना को भी निवृत्ति हो जाना, पुरुष सदा एकाकी केवल निरुपाधि स्व से रहना ही ब्रह्म पुरुष की दृष्टि से केवल्य है।

पुरुष के प्रयोजन से रहित चरिताधिकार तत्त्वादिगुणों का अव्यक्त प्रकृति में अस्तिप्रवृत्ति हो जाना अर्थात् लीन हो जाना गुणों की दृष्टि से केवल्य का वर्णन है। चूंकि गुणों का किसी पुरुष के शोभापवर्ग के सिद्ध हो चुकने के पश्चात् अव्यक्त में विलीन हो जाने को ही केवल्य कहते हैं इसलिये सांख्य शास्त्र की यह उक्ति भी चरिताधिकार हो जाती है<sup>3</sup>।

1- तस्माच्चित्तवृत्तिजोधेपुरुषस्यानादिः सम्बन्धो हेतुः यो. भा. सू. 1-4

2- कृतकृत्यानां गुणानां गुणकार्याणां प्रतिप्रसवः स्वकारणे शाश्वतः प्रलयः

केवल्यम् । कार्यकारणात्मानां गुणानां प्रकृतिप्रकृतिविकृतीनां विगुणोपादानां स्वस्वप्रतिष्ठापि चित्तशक्ति बुद्धिसम्बन्धात् तस्मात् बुद्धिप्रतिष्ठेय प्रतिमनुते बुद्धिप्रतिप्रसवाद यदाऽद्वैताकेवला धेति वाचया भवति न पुनर्द्वैतत्वानादकेवलेति वाचया स्यात्तदा केवल्यं पुरुषस्येति । भा. पू. 254-255

3- तस्मान्न कथ्यतेऽद्या न कथ्यते नापि तस्तरति कश्चिच्च

तस्तरति कथ्यते कथ्यते च नानात्रयाः प्रकृतिः ।। तां. का. 62

सांख्ययोग के अनुसार पुंस्व का न तो वस्तुतः बन्ध होता है और न ही मोक्ष । बन्ध और मोक्ष दोनों ही प्रकृति के धर्म हैं केवल अकार मात्र से पुंस्व का मोक्ष अथवा बन्ध ऐसा कहा जाता है । जैसे विजय और पराजय वस्तुतः सेना की होती है परन्तु औपचारिक रूप से राजा की विजय अथवा पराजय ऐसी कही जाती है । इसी प्रकार बुद्धि के साधनादि सम्बन्ध के कारण ही पुंस्व का बन्ध अथवा मोक्ष ऐसा कहा जाता है ।

केवल्य के द्वारा पुंस्व की कोई नवीन स्थिति नहीं होती है, न ही उसकी पूर्वस्थिति में किंचित ही अन्तर आता है । वह अपने ही रूप का रहता है । केवल उसमें अचरित होने वाली अमाधि निराकृत हो जाती है । इस अमाधि का अपसारण ही केवल्य है ।

भौज्युक्ति में भोज ने केवल्य का वर्णन करते हुए मोक्षकाल में आत्मा के स्वस्व के विषय में घटान्त, न्याय, भीभ्रंता, प्रोच स्वं बीडादि मतों का खण्डन किया है । आरण्य एवं अन्य किसी भी टीकाकार ने परमखण्डनपुरस्तर योगमान्य केवल्य के स्वस्व का स्थापन करने का प्रयास नहीं किया है ।

४०० अध्याय

पञ्चविध सिद्धिर्, एवं

जात्यन्तर परिणाम

---

### षष्ठः अध्यायः

#### पञ्चविध सिद्धियां सर्वं जात्यन्तर परिष्कार

भारवती के अनुसार शरीर, चित्त एवं इन्द्रियों का अभीष्ट उत्कर्ष ही सिद्धि है<sup>1</sup>। ये पांच उपायों द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। ये पांच उपाय जन्म, औषधि, मंत्र, तन्त्र एवं तपः धर्म हैं<sup>2</sup>। कैवल्य के स्वप्न का आकलन करने में सहायक होने के कारण ही इन सिद्धियों का समावेश कैवल्यवाद के अन्तर्गत किया गया है।

इन सिद्धियों में सर्वप्रथम अर्थात् जन्मजात सिद्धियों का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि पूर्वजन्म के कर्मविशेष के कारण दूसरे जन्मों में ये सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इनके लिए कोई प्रयत्न अथवा उपाय नहीं करना पड़ता है<sup>3</sup>।

जन्म के अतिरिक्त कुछ सिद्धियां ऐसी होती हैं जो औषधियों के सेवन के द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। भाष्यकार ने औषधियां सिद्धियों के संदर्भ में अमुर भवन का उदाहरण दिया है। इस अमुर भवन की स्थिति के विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। अमुर भवन के विषय में प्रसिद्ध है कि वहां पर जाकर और उसकी रासायनिक औषधियों का

1- कायाचित्तेन्द्रियाणां अभीष्ट उत्कर्षः सिद्धिः । भा. पृ. 392.

2- जन्म औषधि मन्त्रः तपः धर्मः सिद्धयः । यो. सू. 4-1.

3- तत्र प्रथमं सिद्धचित्तेषु कैवल्यसागीर्यं चित्तं निर्वीर्यचित्तकामः पञ्चतयौ सिद्धिमाह । लो वे० पृ. 392.

सेवन करके मनुष्य जरा और मरण के अंतर सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।  
असुर भवनों में ओम्बधिजन्य सिद्धियों का वर्णन स्मृतिपुराणादि में अनेकानेक  
मिलता है ।

मंत्रों के द्वारा आकाशगमन एवं अग्निगति सिद्धियां प्राप्त की  
जा सकती हैं<sup>1</sup>। मंत्रों का उचित स्थितियों में एवं सम्यक्श्लेषण का एवं  
उच्चारण करने से अलौकिक सिद्धियां उपलब्ध हो जाती हैं<sup>2</sup>। मंत्रजप में  
अतीव शक्ति होती है । मंत्र का आधार शब्द है अर्थात् मंत्र शब्द-  
स्वल्पात्मक है एवं शब्द निस्सीमाशक्तियुक्त है । आई.के.टेम्पली के अनुसार  
"आधुनिक विज्ञान को यह स्वीकार्य है कि चरम सत्य की प्राथमिक अभि-  
व्यक्ति या सृष्टि एक सूक्ष्म स्पन्दन के द्वारा होती है, जिसे ध्वनि या  
शब्द कहते हैं । इस शब्द के द्वारा संसार की उत्पत्ति ही नहीं वरन्  
उसका निर्वाह भी होता है । अतः यह स्पन्दन के अनेक रूपों में विभाजित  
हो जाता है । ये स्पन्दन ही दृश्यत्मक जगत को संवृत करके व्याप्त  
रहते हैं ।" सृष्टि के कारणस्वरूप इस महान आधारस्वरूप अविभाज्य स्पन्दन  
को शब्दब्रह्म कहते हैं ।

आधुनिक विज्ञान भी मंत्रयोग के रहस्य से अनभिज्ञ नहीं है । भारत  
में प्राचीनकाल से प्रचलित मंत्रों में मंत्रविज्ञान के गहात्म्य एवं मंत्रों में  
निहित तत्त्वशक्तियों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है । विश्वास चिकित्सा  
पर आधारित मंत्रयोग के द्वारा शारीरिक व्याधियों को दूर किया जा  
जा सकता है । ईसाई विचारकों का कहना है कि विश्वास चिकित्सा

---

1- मंत्राकाशमनाग्निभादितारकः । यो. भा. तु. 4-1

ईसाई मत तथा पादरियों के प्रभाव का परिणाम है परन्तु भारत में भी इसी प्रकार पहले मंत्रों द्वारा चिकित्सा होती थी, इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। वस्तुतः अविज्ञान विषयक ज्ञान के कारण ही आजकल लोग मंत्रों की शक्ति के विषय में शंकायें करते हैं। मंत्रों के द्वारा इच्छा-शक्ति अतीव प्रबल हो जाती है एवं फलवत्त्व वशीकरण तदृश सिद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं<sup>1</sup>।

तपस्या के द्वारा संकल्प की सिद्धि होती है जिससे योगी इच्छा-नुसार स्व धारणा करके यत्र-तत्र स्वेच्छा से पहुँच सकता है<sup>2</sup>। तपोनुष्ठान से अशुद्धिनाश होता है एवं फलवत्त्व शरीर एवं इन्द्रियों पर वशाप्राप्ति होती है<sup>3</sup>।

सिद्धियाँ जो तमोधि के द्वारा प्राप्त की जाती हैं, इन्हें तमोधि सिद्धियाँ कहते हैं। ये तमोधि सिद्धियाँ अणिम, तथिम, महिम इत्यादि आठ हैं। इनका विस्तृत विवरण विभूतिमाद में किया गया है।

भोज के अनुसार भी तमोधि के अतिरिक्त अन्य चारों सिद्धियाँ भी पूर्वजन्म में केलानाथ हेतु स्वल्पाधिक तमोधि का अभ्यास करने वालों को ही जन्मन्तर में उपलब्ध होती है। जन्म आधि तो निमित्त मात्र होते हैं<sup>4</sup>। वस्तुतः तमोधिसिद्धि के द्वारा ही चित्त केवल्य लाभ के लिए उपयुक्त होता है। प्रायः सभी ध्याख्याकारों ने एकमत से तमोधिजन्य

1- द्रव्य-पार्श्व योगदर्शन (हरि आ.) पृ. 292

2- तपसा संकल्पसिद्धिः — काम्यी यत्र तत्र काम्य इत्येवमदि । यो. भा. सू. 4-

3- कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिस्तत्पतः । यो. सू. 2-43.

4- भोजवृत्ति— 4/L



सिद्धियों की सवीकृता को स्वीकार किया है । आरण्य के अनुसार ये सग-  
धिजा सिद्धियां सभी सिद्धियों का अतिक्रमण करने वाली, निस्सीम एवं  
अवन्धनीया हैं<sup>1</sup>।

अन्य प्रकार की शरीर और इन्द्रियों के स्व में परिणत हुए शरीरों  
एवं इन्द्रियों का जात्यन्तर परिणाम प्रकृति के आपूरण से होता है<sup>2</sup>।  
उपादानभूत अवयवों का अनुपवेश ही आपूरण कहलाता है । शरीर की  
प्रकृति या उपादान कारण पृथिव्या ही पंचभूत एवं इन्द्रियों की प्रकृति  
अस्मिता तत्त्व है ।

पाचों भूत अपने विकारभूत ये शरीर को एवं अस्मिता अपनी  
विकारभूत नयी इन्द्रियों को अपने अवयवों के अनुपवेश से अनुगहीत करते हैं ।  
आरण्य के अनुसार विकारों को अभिव्यक्त करना ही उन्हें अनुगहीत करना  
है<sup>3</sup>।

जात्यन्तर परिणाम होने के लिए निमित्त अश्लेषित होता है ।  
ये निमित्त प्रकृतियों के प्रेरक नहीं होते हैं परन्तु वे कृषकों के समान आचरण-  
स्व धर्मादि का भेदनमान कर देते हैं<sup>4</sup>। निमित्तस्व ये धर्मादिकार इन्हीं  
प्रकृतियों के कार्य हैं<sup>5</sup> अतः कार्य के द्वारा कारणस्व प्रकृति का प्रेरित किया

1- संयमजा सिद्धयो रथाठयातास्तारय सिद्धिःवनियता अवन्धनीयाः।  
भा. पृ० 293.

2- जात्यन्तर परिणामःप्रकृत्यापूरण । यो. सू. 4-2.

3- स्वैकं स्वैकं विकारं स्वाधिः ०ान कार्यं कारणान्यापूरणानुगृहणान्ति  
अनुगृहयाभिव्यजन्ति । भा. पृ. 394.

4- निमित्तप्रयोजकं प्रकृतीनां चरणभेदस्तु ततःक्षेदि क्वच यो०सू. 4-3.

5- धर्मादिनिमित्तं न प्रकृतिं कार्यान्तरकनाय प्रयोजति विकारस्थत्वात् भा. पृ.

जाना संभव नहीं है<sup>1</sup>। सुनकार ने इस प्रक्रिया को सम्झने के लिए क्षानिक का उदाहरण दिया है।

जिस प्रकार से किसान जल को सम्पूर्ण खेत में पहुँचाने के लिए केवल गेड़ काट देता है एवं फिर स्वतः प्रसरणशील जल सम्पूर्ण खेत में परिस्थापित हो जाता है उसी प्रकार से किसी प्रकृति विषय की अभिव्यक्ति के प्रति-बंधक हेतु का निराकरण होने पर वह प्रकृति स्वतः शारीरेन्द्रियों में आपूरित हो जाती है। इस प्रकार धर्मादि निमित्तों का कार्य प्रकृति को प्रेरित करना नहीं है, परन्तु प्रकृतियों की स्वाभाविक संकल्पकता में प्रतिबंधकत्व रूप जीवों के अधर्मादि संस्कारों का भेद अथवा अनयन करना है।

आचार्य ने इसी को प्रस्तरखण्ड का सुन्दर दृष्टान्त देकर सम्झाया है<sup>1</sup>। जिस प्रकार बिना किसी बाह्य योग के केवल अतिरिक्त अंशमात्र काट देने से इस प्रस्तरखण्ड में के केवल एक से मूर्ति बन जाती है उसी प्रकार अधर्मादि संस्कारों के अंश के निराकरण के द्वारा करणप्रकृति भी उसी प्रकार प्रकाशित होती है। आरण्य के अनुसार प्रकृति की क्रिया का ही नाम धर्म है। उदाहरणार्थ दिव्यचक्षुः सभी प्रकृति का धर्म दूरदर्शन अथवा दिव्यदृष्टि है। प्रकृति के विरतीत धर्म का नाश होने पर ही प्रकृति का धर्म दूरदर्शन अथवा दिव्यदृष्टि है। प्रकृति आपूरण के द्वारा जात्यंतर परिणाम उत्पन्न होता है<sup>2</sup>। इसी को और अधिक स्पष्ट करने

1- द्रष्टव्य— पा. योगदर्शन ॥ हरि आ. ॥ पृ. 300.

2- यथा च्यवहित्दर्शनं दिव्यचक्षुःप्रकृतिधर्मः, सत्प्रकृतिर्न भानुष्युः कार्य-

दृत्पादनीयम् भानुष्युः कार्यनिरोधे ता स्व्यमेव चक्षुः शक्तिमुपविश्व  
दिव्यदृष्टिः स्वचक्षुरा विभविषति । भा. पृ. 395

के उद्देश्य से आचार्य उदाहरण देकर समझाते हैं कि जैसे दिव्यदर्शन दिव्यधुआँ की प्रकृति है। यह प्रकृति मनुष्यधुआँ के कार्यों के द्वारा उपलब्ध नहीं की जा सकती है परन्तु यदि मनुष्यधुआँ के कार्य का निरोध कर दिया जाए तो वह दिव्यधुआँ स्वयं आविर्भूत होकर प्रकाशित होती है। अर्थात् दिव्यधुआँ आदि कोई नवीन वस्तु नहीं उत्पन्न होती है प्रत्युत वह प्रकृति का ही धर्म है एवं उसके विरुद्ध धर्मों का नाश हो जाने से स्वयं प्रकाशित होने लगती है। एक प्रकृति के धर्म का निरोध करने पर अन्य प्रकृति उसमें अपूरित होकर अभिव्यक्त होती है।

आरण्य के अनुसार मनुष्य प्रकृति का धर्म दैव प्रकृति का विरोधी है। अतः विरुद्ध स्वभाव वाले मनुष्य धर्म के विरोध रूप निमित्त से दिव्यप्रकृति स्वयं अभिव्यक्त होती है। निमित्त प्रकृति को प्रेरित नहीं करता है प्रत्युत विधर्म को अभिभूत करता है जिसके फलस्वरूप प्रकृति स्वयं अनुपवेश के द्वारा अभिव्यक्त होती है।

जिस प्रकार विरुद्ध धर्मों के विरुद्ध होने पर शुद्ध परिणाम अभिव्यक्त होता है उसी प्रकार अधर्म द्वारा धर्म के निरुद्ध होने पर अशुद्ध परिणाम भी होता है। कुमार नन्दीश्वर एवं नृसिंहराज इन द्विविध परिणामों के उदाहरण हैं। नन्दीश्वर के विषय में प्रतिद्ध है कि उन्होंने धर्म के द्वारा अधर्म का निरोध किया एवं फलस्वरूप प्रकृतियों के अवयानुपवेश के द्वारा इसी जीवन में दिव्य दैहेन्द्रिय को प्राप्त किया। इसी प्रकार से पौराणिक आख्यायिका है कि नृसिंह के अधर्म से पूर्व सभी दिव्यधर्म निरुद्ध हो गये एवं वह अज्ञान के रूप में परिणत हो गया।

### सिद्धियाँ: स्वल्प सर्व प्रकार

योगसूत्र का तृतीय पाद सिद्धियों के वर्णन से भरा पड़ा है। इसी कारण से इस पाद को विभूतिमाद के नाम से अभिहित किया गया है। जैसे इस विभूतिमाद के अतिरिक्त भी अन्य तीन पादों में यज्ञ-तन्त्र विभूतियों का उल्लेख प्राप्य है। विभूति का अर्थ शक्ति, सिद्धि, सामर्थ्य एवं ऐश्वर्य है।

ये सिद्धियाँ योग का चरम लक्ष्य नहीं हैं। योगदर्शन में इन सिद्धियों की समाधिस्व मुख्य लक्ष्य से निम्नस्तर का समझा जाता है। जिस प्रकार उच्च स्तर का विशेष महत्त्व है उसी प्रकार निम्नस्तर का भी कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। इन सिद्धियों को स्वल्प को स्पष्ट करने के लिए डा. राधाकृष्णन ने ज्ञानियन के स्वकार्लकार को उद्धृत किया है जिसके अनुसार दिव्यनगर के तीर्थयात्रियों को स्वयं स्वर्ग के मुख्य द्वार पर ही एक छोटी-सी खिड़की मिलती है जिसमें से होकर एक मार्ग नीचे नरक तक चला गया है। जो पुरुष इन चमत्कारपूर्ण शक्तियों का शिकार हो जाता है उसका अधःपतन शीघ्र होता है<sup>1</sup>। इसी प्रकार की घेतावनी विक्रानन्द ने भी राजयोग में दी है।

सिद्धियों का वर्गीकरण निम्नलिखित तीन आधारों पर किया जा सकता है —

1. योग-साधना के भेद के आधार पर,
2. सिद्धियों के विषयों के आधार पर, एवं
3. सिद्धियों के रूपस्व के आधार पर।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार ये योग के बहिरंग साधन हैं। इनकी सिद्धि के फलस्वरूप उत्पन्न सिद्धियाँ बहिरंग साध्य कही जाती हैं। इन सिद्धियों का विशद वर्णन योगसूत्र के साधनपाद में किया गया है। धारणा, ध्यान एवं समाधि ये तीन योग के अन्तरंग हैं। इन अन्तरंग साधनों पर किये गये संयम के फलस्वरूप उपलब्ध सिद्धियाँ अन्तरंग साधनजन्य सिद्धियाँ कहलाती हैं। इनका एवं अन्य सिद्धियों का वर्णन विभूतिपाद में है। उपर्युक्त ये दौ भेद योग साधना के आधार पर किये गये हैं। सभी जागतिक अथवा भौतिक पदार्थ ग्राह्य, ग्रहण एवं ग्रहीता इन तीन स्वरूपों के हैं। अतः सिद्धियाँ भी त्रिविध हैं। इसी प्रकार आकाश-गमन, छिद्ररहित पाषाण में प्रवेश स्तूरा सिद्धियाँ क्रियाप्रधान एवं परचित ज्ञान, भूत भविष्य, वर्तमानादि का ज्ञान प्रदान करने वाली सिद्धियों को ज्ञानप्रधान सिद्धियाँ कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में इन सिद्धियों का निम्न आठ प्रकारों से वर्णन किया गया है —

“अणिमा महिमा चैव लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियं ।

प्राकाश्यं बुद्धिर्बुद्धिः शक्ति प्रेरण गीशिता ।

गुणैर्ब्यसनी चशिता यत्काम्बुद्वयति । ”

अर्थात् अणिम, लघिमा, गरिका, महिमा, प्राप्ति, प्राकाश्य, ईशितात्त्व एवं चशित्त्व— ये आठ ऐश्वर्य हैं।

योग के बहिरंग साधन यथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार के दृढ़ होने पर द्वािध साधक को प्राप्त होती हैं । ये सिद्धियाँ योगाभ्यास की परिपक्वता की दिग्द शिंका हैं । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं आरिगृह ये पांच यम हैं । इनमें सर्वप्रथम अहिंसा-वृत के दृढ़ अभ्यास के द्वारा साधक अन्य प्राणियों की हिंसक प्रवृत्ति का सहज ही प्रशमन करने में समर्थ हो जाता है<sup>1</sup>।

इसी प्रकार सत्य नामक यम के पूर्ण प्रतिष्ठित होने पर साधक की वाक् सम्पूर्ण क्रियाओं एवं सकल फलों की मूलाधार अक्षा कारण बन जाती है<sup>2</sup>। आरण्य के अनुसार कर्माचरण के वाघचास प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फल योगी की वाणी के द्वारा ही श्रोता के मन में तत्त्वस्य संस्कार उत्पन्न करके उसे स्वर्गादि सिद्धि करा देता है<sup>3</sup>। इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि योगी की इच्छा शक्ति नल में जल्पवाह के सदृश तल सत्य वाक्य द्वारा श्रोता के मन में लाहित होती है एवं उसके मन पर अधिकार कर उससे पैसा ही कार्य करवा लेती है ।

सत्यप्रतिष्ठ योगी की वाणी अगोध एवं त्रिकालनिधित होती है । सत्यप्रतिष्ठ योगी अपनी शक्ति के अनुसार वाणी का उच्चारण करते हैं

1- अहिंसा प्रतिष्ठायान् तत्त निन्धी वैरत्यागः । यो. सू. 2-35

2- सत्य प्रतिष्ठायान् क्रिया फलाप्रयत्नः । यो. सू. 236

3- कर्माचरणेन तत्त स्वर्गगमनादि फलं लभ्यते, यो गिनी ताघेव श्रोतुमसि समुदित संस्काराश्च तसि तदिः । भा. सु. 260.

शक्ति से परे विषयों में वे मौन धारण करते हैं ।

ऋतेय के सिद्ध होने पर साधक को बिना किसी प्रयत्न के बहुमूल्य वस्तुओं एवं उपहारों की प्राप्ति होती है<sup>1</sup>। ऋतेय पालन से साधक की सुखाकृति परम निस्पृहभाव की अभिव्यक्ति के कारण अतीव श्लाघ्य हो जाती है एवं निस्पृहता की साक्षात् प्रकृतित्व होने के कारण अन्यजन साधक को बहुमूल्य रत्नोपहार प्रदान करते हैं ।

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्यलाभ प्राप्त होता है<sup>2</sup>। इससे साधक इच्छा का विधातन करने वाले अणिगदि गुणों को प्राप्त कर लेता है साथ ही वह अपने शिष्यों को ज्ञानदान कराने की शक्ति भी प्राप्त कर लेता है । ब्रह्मचारी साधक शिष्य को ज्ञानोपदेश करने में सर्वथा असमर्थ होता है । आचार्य के अनुसार ब्रह्मचारी को उहादि सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं<sup>3</sup>। अपरिग्रह की प्रतिष्ठा से साधक को जन्मबोधस्वी सिद्धि प्राप्त होती है<sup>4</sup>। वह भूत, वर्तमान एवं भविष्य रूपी जन्मों के विषय में पूर्ण ज्ञानार्जन कर लेता है । ये उपर्युक्त सिद्धियाँ अहिंसादि पांच यमों के पूर्ण परिपक्व होने से साधक को प्राप्त होते हैं ।

नियमों के सम्यक् अनुष्ठान के द्वारा भी कुछ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ह्यस्वप्रणिधान ये पांच नियम हैं

1- ऋतेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् । यो. सू. 2-37.

2- ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः यो. सू. 2-38.

3- तत्र उहाध्ययनादि भिन्नानि सिद्धा । भा. पू. 26.

4- अपरिग्रहस्यैव जन्मकन्तासम्बोधः । यो. सू. 2-39.

शौच नामक प्रथम नियम की प्रकृति से स्वतः के सर्व अथ परशरीरों के प्रति धृष्टता की भावना जागृत होती है<sup>1</sup>। तात्त्विक वृत्ति के चित्त में पृच्छतत्त्वेन उदय से चित्त सकाश होता है एवं पञ्चसूत्र क्रमाः इन्द्रियज्य एवं आत्मदर्शन की योग्यता उत्पन्न होती है<sup>2</sup>।

चित्त की सन्तोष नामक नियम की प्रकृति से अत्युत्तम सुख का लाभ होता है<sup>3</sup>। तप के आचरण से अशुद्धि का नाश होकर कार्य-न्द्रियसिद्धि प्राप्त होती है<sup>4</sup>। आनन्द्य आचरण यत्न क्षीण होने पर अणिरादि श्रेष्ठ्य एवं दूरस्थ शब्दों का श्रवण स्व इन्द्रियसिद्धि होती है।

स्वाध्याय नामक नियम के सम्यक् परिपक्व होने पर देव, बुद्धि, सिद्धिगण एवं महापुरुष साधक से प्रसन्न होकर स्वयं उपरिष्ठ होकर अपने दर्शन से साधक को अनुगृहीत करते हैं<sup>5</sup>। ये साधक के कर्मों को सम्पन्न कराने में सहायता करते हैं<sup>6</sup>।

ईश्वरप्रणिधान की सिद्धि से समाधिलाभ होता है<sup>7</sup>। ईश्वर-प्रणिधान को योगमार्ग के कष्टकों का अन्तारण होकर समाधि की प्राप्ति होती है।

1- शौचात् स्वानुजुप्सा पेरत्सर्गः। यो. सू. 2-40.

2- सत्त्वशुद्धिर्वा मन्त्र्येकग्रयेन्द्रियज्यात्मदर्शान्न-योग्यत्वात्। यो. सू. 2-41.

यो. सू. 2-42.

3- सन्तोषादनुत्तमुखलाभः। यो. सू. 2-42.

4- कार्येन्द्रियसिद्धिरशुद्धिभ्यान्तपतः। 2-43.

5- स्वाध्यायादिऽदेवतासम्प्रयोगः। 2-44.

6- कार्येचात्स्य वर्तन्ते। व्यास भा. सू. 2-44.



आसन के सम्यक् अभ्यास से साधक का अहिंसु बन जाता है । शीतोष्ण, शुष्क, पिपासा आदि ०न्द उसे प्रभावित एवं क्रत नहीं कर पाते हैं<sup>1</sup> ।

प्राणायाम नामक बहिरंग, योगांग की प्रतीक्षा से प्रकाश के आवरणस्य अन्विष्टा हि केशा एवं तदजन्य पाप नष्ट हो जाते हैं<sup>2</sup> । ताद ही प्राणायाम के द्वारा म्घ सब प्रकार की धारणा के योग्य भी हो जाता है ।

प्रत्याहार की सिद्धि से इन्द्रियों की परमावश्यकता बढ़ती है<sup>3</sup> । प्रत्याहार सिद्धि का मुख्य फल इन्द्रियस्य है । प्रत्याहार के द्वारा साधक की इन्द्रियां पूर्णतः उसके स्थायीन हो जाती हैं ।

यग, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार इन बहिरंग योगांगों के अङ्गुठा से उत्पन्न सिद्धियों का उपर्युक्त वर्णन है ।

धारणा, ध्यान एवं समाधि ये तीन योगांग के अन्तरंग हैं । इन तीनों के अङ्गुठान से भी अनेक सिद्धियों का लाभ होता है । धारणा, ज्ञान और समाधि का ही सांगूहिक नामसंयम है । धर्म, लक्षण एवं अवस्था इन तीनों परिणामों पर संयम करने से योगी को भूत और भक्तिय का आयास ज्ञान हो जाता है ।

शब्द अर्थ और उसके ज्ञान इन तीनों में संकर हो जाता है अर्थात्

1- ततो तन्मानभियातः यो. सू. 2-48-

2- ततः क्षीयते प्रकाशावरणः । यो. सू. 2-52.

3- ततः परमावश्यकान्द्रियाणां यो. सू. 2-55.

ये तीनों मिले-जुले स्वरूप से प्रतीत होते हैं<sup>1</sup>। वस्तुतः वृध् शब्द, वृध् अर्थ और वृध् के ज्ञान वैभिन्न हैं। आचार्य शब्द, अर्थ एवं ज्ञान के भेद को निरूपित करते हुए कहते हैं कि शब्द वाग्निन्द्रिय में स्थित है, गवादि अर्थ गोष्ठे ऋगोशाला में स्थित है — और उसका ज्ञान मन में स्थित है<sup>2</sup>। इस प्रकार से तीनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं।

संस्कारों के साक्षात्कार करने से पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है<sup>3</sup>। धर्मधर्मस्म ये दो प्रकार के संस्कार भेद हैं। इन विविध संस्कारों के साक्षात्कार करने से उस संस्कार से सम्बन्धित देश, काल एवं कारणों का भी ज्ञान होता है। अतः योगी को सभी पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है। इस विषय में आख्यान सुना जाता है कि जेगीषण्य जो सद्गुरु जन्मों का ज्ञान प्राप्त करे था।

चित्त में संयम करने से दूसरों के चित्त का ज्ञान होता है<sup>4</sup>। यहाँ पर प्रत्यय शब्द के अर्थ पर कुछ विवाद है। कुछ टीकाकारों ने प्रत्यय का अर्थ परचित्त और कुछ ने स्वचित्त किया है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार प्रत्यय का अर्थ स्वचित्त है और वाचस्पति मित्र और भीष्मराज के मत में प्रत्यय का अर्थ परचित्त है। आचार्य हरिहरानन्द आरण्य इन दोनों के बीच मध्यम मंत्र निकालते हुए कहते हैं कि प्रत्यय का अर्थ रागामय या देहमय अने या पराये किसी के भी चित्त से है<sup>5</sup>। वास्तव में यही मत अधिक समीचीन

1- यो वाचकःशब्दः स एवाश्चेत्तैवं च ज्ञानमिति संकीर्णता । भा. पू. 320.

2- एवं शब्दाश्चाप्रत्यया नेतरेतरसंकीर्णा, शब्दो वाग्निन्द्रिये वर्तते, गवाद्यवौ गोष्ठेऽदौ वर्तते प्रत्ययश्च मनसोत्पन्नः संकीर्णः । भा. पू. 331.

3- योगसूत्र—संस्कारसाक्षात्करणान्पूर्वजातिज्ञानमी । यो. सू. 3-18.

4- प्रत्ययस्य परचित्तत्वान्न । यो. सू. 3-19.

5- प्रत्ययेरक्तदिग्दादि चित्तमत्रे संयमात् । भा. पू. 335.

प्रतीत होता है क्योंकि परचित ज्ञान स्वचित्त पर संयम किये बिना नहीं हो सकता है ।

शरीर के रूप में संयम करने से योगी को अन्तर्धान होने की शक्ति आ जाती है<sup>1</sup>।

कर्म सोपक्रम एवं नित्यक्रम कर्म होते हैं<sup>2</sup>। उनमें ५ किये गये संयम से मृत्यु का ज्ञान होता है अरिष्टों से भी मृत्यु का ज्ञान होता है । अरिष्ट तीन प्रकार के होते हैं — आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक । आध्यात्मिक अरिष्ट वह होता है कि जब ज्ञान बन्द करने पर शरीर के अन्तर्गत स्थित ध्वनि का आभास न हो अथवा आर्षे बन्द करने पर आन्तरिक ज्योति दिखायी न पड़े । यन्मुख्य अथवा पितरों का अचानक दर्शन आधिभौतिक अरिष्ट है । इसी प्रकार स्वर्ग अथवा सिद्धों का दर्शन आदि आधिदैविक अरिष्ट है ।

भैरी, कल्पना एवं मुदिता ये तीन भावनाएँ हैं । इन भावनाओं पर संयम करने से योगी को भैरी बल, कल्पना बल एवं मुदिता बल की प्राप्ति होती है<sup>3</sup>। भैर्यादि भावना करने से योगी को समाधि होती है एवं यही समाधि संयम है । इस संयम के द्वारा योगी को भैरीबल आदि की प्राप्ति होती है । भैरीबल से योगी के चित्त से इन्द्रियिभ्र पूर्णतया विलुप्त हो जाते हैं एवं उसकी इच्छा मात्र से शत्रु भी मित्रत्व व्यवहार करने लगते हैं<sup>4</sup>।

1- कायस्यसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तित्तमर्भं चक्षुःकाशाक्षमृद्योगेअन्तर्धानम् । 3-2

2- सोपक्रमं नित्यक्रमं च कर्म तत्संयमद्वारान्तज्ञानमरिष्टेभ्योवा । 3-22

3- भैर्यादिषु क्तानि । 3-23.

4- भैर्यादि भावनात्तत्तदभावेण त्वस्यङ्गयमिभ्य तत्तदभावनिर्भासं दृक्चनं यदा भवेत्तदा तत्र समाधिः, त एव तत्र संयमः । भा. पृ. 338.

किये गये संयम से क्रमशः हाथी, गजद्वयं वायु का बल योगी को प्राप्त हो जाता है<sup>1</sup>। मन की विशेषता ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाश के द्वारा योगी को सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ विषयों का सर्वांगीण ज्ञान हो जाता है<sup>2</sup>। सूर्य में संयम करने पर समस्त भुवनों का ज्ञान योगी को प्राप्त हो जाता है<sup>3</sup>।

यहाँ पर संयम का किस प्रकार का सूर्य है किन्तु टीकाकारों ने इस सूर्य के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार सूर्य का अर्थ सुष्मना नाड़ी है<sup>4</sup> तथा आचार्य हरिहरानन्द आरण्य ने कृत भास्वती के अनुसार सूर्यद्वार का अर्थ सुष्मनाद्वार है<sup>5</sup>। श्रीजराज और विज्ञानशिक्षु सूर्य का प्रकाश करने वाला सूर्य ही मानते हैं<sup>6</sup>। नारायणतीर्थ ने इन दोनों मतों के मध्यम मार्ग को अपनाते हुए मना है कि सुष्मना को सूर्य की किरण विशेष है। इस प्रकार से यही युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि यहाँ पर सूर्य से प्रकाशमान सूर्य ही सूत्रकार को अभीष्ट है। इस प्रकार मान सूर्य पर संयम करने से योगी को सभी भुवन विदित हो जाते हैं<sup>7</sup>।

चन्द्रमा पर संयम करने से सभी तारक समूह का विशेष ज्ञान हो

1— बालेष्टु हस्तिकलादीनि । 3-24.

2— प्रसृत्या अलो कन्यासा तसूक्ष्म व्यवहितविश्रुतज्ञानम् । 3-25.

3— भुवनज्ञानं सूर्या संयमद । 3-26

4— अस्तकज्ञानं सूर्यद्वारि सुष्मनानाज्याक्षे । 10 वे 0 पृ 0

5— सूर्यद्वारे सुष्मणाद्वारे । भा. पृ. 306.

6— सूर्ये प्रकाशाम्ये यः संयमं करोति । रां. भा. पृ.

7— दि वि देहीप्यमानमात्मण्डे सुष्मना दितद्वारविममतिनि संयमात् ।

जाता है<sup>1</sup>। ध्रुवतारे पर संयम करने से तारों की गति का ज्ञान होता है<sup>2</sup>।  
आचार्य के अनुसार ध्रुव का अर्थ निश्चल तारक है<sup>3</sup>।

नाभियुक्त में संयम करने के शरीर संरक्षण का ज्ञान होता है<sup>4</sup>।  
शरीर में तीन दोष हैं जो कि वात, पित्त एवं कफ, त्वचा, रक्त,  
मांस, नस, हड्डी, मज्जा और वीर्य सात धातुएँ भी शरीर में होती हैं।

कण्ठकृमि में संयम से<sup>5</sup> पर भ्रूष और प्यास समाप्त हो जाती है<sup>5</sup>।  
जिह्वा के ठीक नीचे की ओर तन्तु<sup>6</sup> होता है उसके नीचे कण्ठ<sup>7</sup> और उसके  
भी नीचे कृमि होता है। तन्तु वाहय्य<sup>8</sup> का एक अंग है जिसे अंग्रेजी निय-  
मावली में "वोकल कॉर्ड" कहते हैं। इस प्रकार से कण्ठकृमि पर संयम करने पर  
मनुष्य को भ्रूषा और पिपासा जनित पीड़ाएँ संस्त नहीं कर पाती हैं  
अर्थात् वह इन पर अधिकार कर लेता है<sup>6</sup>।

कृमि के नीचे क्लृपक में कर्मकार नाड़ी<sup>9</sup> स्थित स्थूल शूक्ष्म होती है

1- चन्द्रे ताराद्युहजानम् । यो. सू. 3-22

2- ध्रुवे तद्गतज्ञानम् । 3-28.

3- ध्रुवे कश्चिच्चिन्निश्चलतारके । भास्वती पृ. 347.

4- नाभियुक्ते कायव्यूहज्ञानम् । 3-29.

5- कण्ठकृमि भ्रूषाप्यासानि वृत्तिः । 3-30.

6- तन्तुः ध्वन्युत्पादकं कण्ठाग्रसंस्थितं नित्तान्तुर्ध्वं वा गिन्द्रियांगम् ।  
भा. पृ. 347.

7- कण्ठः श्वातनाभ्या उर्ध्वभागः । भास्वती, पृ. 348.

8- तस्मिन् प्रदेशे संयमदशोपविशोक्तः साक्षात्कृते सति भ्रूषाप्यासा-  
निवृत्तिश्चा सिद्धिर्भवतीत्यर्थः । यो. वा. पृ. 348.

उसमें संयम करने पर सर्पण गोध सगन स्थैर्य लाभ होता है<sup>1</sup>। स्थैर्य को लेकर यहाँ पर व्याख्याकारों में कुछ मतभेद है कि स्थैर्य कायिक है अथवा चित्त सम्बन्धी। भास्वतीकार<sup>2</sup> तथा चण्डिकाकार<sup>3</sup> विज्ञानभिक्षु इसे चित्त को स्थैर्य प्रदान करने वाली सिद्धि मानते हैं। परन्तु भोजराज इस स्थैर्य को शरीर और चित्त दोनों से सम्बन्धित स्वीकार करते हैं<sup>4</sup>। यही अर्थ अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

मूर्धा में स्थित ज्योति में किये गये मूर्ध्ज्योति में संयम करने पर सिद्धि का दर्शन होता है<sup>5</sup>। शिर, कपाल के अन्दर एक छेद होता है इस छेद के अन्दर अत्यन्त प्रकाशमान प्रभास्व ज्योति है। इस ज्योति पर संयम करने से पुलोक एवं पृथ्वीलोक के मध्य अद्भुतयोगेण संघर्ष करने वाले सिद्धिों का दर्शन होता है। भास्वतीकार के अनुसार सिद्ध एक प्रकार की देव्योनि है<sup>6</sup>।

प्रातिभज्ञान तारक ज्ञान है<sup>7</sup>। चिच्छान का पूर्व तोपान (फ्लैट स्टेज) है।

हृदय में संयम करने पर चित्त का मान अथवा साक्षात्कार होता है<sup>8</sup>

1- कूर्मनाह्यां स्थैर्यम् । 3-31.

2- कायस्थैर्यजनितं चित्तस्थैर्यम् ज्ञानस्य सिद्धिनाम्नर्गतत्वात् । भा. पू. 348.

3- कूर्मीकरं हृदयपुण्डरीकाख्यं नाडीचक्रं तत्र कृतसंयमो योगी स्थिरपदं स्थिरां चित्तवृत्तिं लभत इत्यर्थः । यो. वा. पू. 348.

4- तस्यां कृतसंयमस्य घेतसस्थैर्यमुत्पद्यते... यदि वा कायस्थैर्यम् उत्पद्यते न केनचित्कपन्दयितुं शक्यत इत्यर्थः । रा. भा. पू. 194.

5- मूर्ध्ज्योतिषि सिद्धदर्शनम् । 3-32.

6- सिद्धः देव्योनि विशेषः । भा. 348.

7- प्रातिभज्ञानस्यम् । 3-33.

8- हृदये चित्तं संविद्यत । 3-34.

पुस्त्य विश्विक ज्ञान में संयम करने पर दो प्रकार की सिद्धियां होती हैं । भोग स्वयी ज्ञान से भिन्न स्वार्थे ऽ पुस्त्यस्तुक प्रत्यये ऽ में संयम करने से पुस्त्य का साक्षात्कार होता है । गौण सिद्धि के अन्तर्गत प्राप्तिम्, श्रावण, आदर्शवेदन, आस्वाद तथा वार्ता नामक सिद्धियां आती हैं<sup>1</sup> । मन्, श्रोत्र, त्वक्, घृह, प्राण और रसना ये छः ज्ञान के साधन हैं । इसी जो योगिक भाषा नामावलि ऽ योगा दर्मिनीलोजी ऽ में प्राप्तिम्, श्रावण, वेदन आदि कहा जाता है<sup>2</sup> ।

यहां पर यह स्पष्ट है कि पुस्त्य में संयम करने से पूर्व प्राणियों को इन इन्द्रियों के द्वारा लौकिक विश्वों का ही ज्ञान होता है अर्थात् ये इन्द्रियां लौकिक ज्ञान को ग्रहण करने तक ही सीमित रहती हैं परन्तु पुस्त्य में संयम करने के आनुभंगिक फल के रूप में इन इन्द्रियों की सामर्थ्य असीमित हो जाती है अर्थात् ये अलौकिक विश्वों का ज्ञान भी ग्रहण करने लगती हैं । साथ ही ये सिद्धियां पुस्त्य ज्ञान होने पर स्वयमेव ही अर्थात् बिना संयम प्रयोग में सदा योगी को प्राप्त होती रहती हैं<sup>3</sup> ।

प्रताभादि सिद्धियों के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ये सिद्धियां समाधिकाल के लिए तो विघ्नरूप ही हैं केवल व्युत्थानकाल में ही ये सिद्धियां हैं<sup>4</sup> । क्योंकि समाहित चित्त के योगी को जो पुस्त्यदर्शन होता है उस में ये सिद्धियां विघ्न उपस्थित करती हैं । व्युत्थान की अवस्था में ये अवश्य

1- ततः प्राप्तिश्चाप्य वेदादभास्वादवार्ता जायन्ते । 3-36.

2- श्रोत्रादीनां पञ्चानां दिव्यशब्दाद्युपलम्भकानां तान्त्रिक्यः स्त्रोत्राः श्रावणायात् ३० पै ० पृ ३५५.

3- एताः सिद्धयो नित्यं भूमिचिन्तियोगमन्तरेषेत्यर्थः प्रादुर्भवन्ति । भा. पृ. 39

4- ते समाध्यात्मसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः । 3-37.

सिद्धि के रूप में मानी जाती हैं<sup>1</sup>।

समाधि के द्वारा धर्मधर्म रूप बन्धकारण शिथिल हो जाता है। चित्त की गति का ज्ञानभी समाधि के द्वारा होता है। अतः बन्धन के कारण में शिथिलता एवं चित्त की गति का ज्ञान हो जाने पर योगी परशरीर में प्रकट होने में समर्थ हो जाता है<sup>2</sup>। चित्त के प्रवेश के साथ ही योगी की इन्द्रियाँ भी उसका अनुसरण करती हैं। ठीक उसी प्रकार से जैसे कि मधुमक्खियाँ अपनी रानी मधुमक्खी का अनुसरण करती हैं।

उदान वायु पर संयम करके, उसको जीतने से योगी जल, कौचड़ और काँटों आदि से अलिप्त रहता है<sup>3</sup>। और प्रयाणकाल में वह अधिराट्टि मार्ग के द्वारा उद्वेगमन करने में भी समर्थ होता है<sup>4</sup>।

समान नामक प्राणशक्ति को जीतने वाला योगी शरीरगत तेज को उद्वेगित करके प्रकाशित होता है।

भारवती में स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं— संयम के द्वारा समान नामक प्राण पर विजय करने से योगी शरीर स्थित तेज को उद्वेगित करके चमकने लगता है<sup>5</sup>।

1- "ते प्रातिभादयः समाधिनिःपत्तत्वात्सम्भवात् रूप्याः असर्गाऽन्तराया अतो व्युत्पन्नापेक्षितेति सिद्धयः।" यो. भा. पृ. 355.

2- बन्धकारणशीथिल्यात्प्रवारत्तेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः। 3-38.

3- उदानज्याञ्जसंक्कटकादिऽवर्तन उत्पान्तिवच। 3-39.

4- हवेच्छयाऽधिराट्टिमानेभूत्प्रान्तिश्चैति प्रयाणकाले। भा. पृ. 358.

5- अथमानस उद्वेगमनुत्तेजर्न तत्रैव प्रज्ज्वलन्निव लभ्येत योगी। भा. पृ. 3



श्रोत्र तथा आकाश के सम्बन्ध पर संयम करने से दिव्य श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्ति होती है<sup>1</sup>। शरीर तथा आकाश के सम्बन्ध पर संयम करने से अस्वास्थ्य के समान लघु पदार्थ पर संयमजन्य समापत्ति करने से योगी आकाशगमन में समर्थ हो जाता है<sup>2</sup>। "कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमाल्लघु-तुल्यमापत्तेरवाकाशगमनम् ।" इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार आकाश का गुण शब्द है, उसी प्रकार शरीर भी अनाहत नाद से परिध्याप्त है। इन सम्भत्ताओं से शरीर और आकाश के सम्बन्ध पर सरलतापूर्वक संयम किया जा सकता है।

आकाशगमन की सिद्धि के भी क्रमिक साधन हैं। पहले योगी जल पर चलने में समर्थ होता है फिर मकड़ी के जाले के बिल्कुल महीन सूत पर भी वह चल लेता है तथा किरणों में भी गमनागमन कर लेता है और तत्पश्चात् बिना किसी आधार के वह योगी आकाश में भी विचरण करने में समर्थ हो जाता है।

शरीर के बाहर अकल्पिता नामक एक महा विदेहावृत्ति होती है। इस अकल्पिता वृत्ति के द्वारा प्रकाश अर्थात् ज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है<sup>3</sup>।

भास्वती में स्पष्ट है कि किसी बाह्य वस्तु पर " मैं हूँ" इस प्रकार

1- श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमात् दिव्यम् श्रोत्रम् । 3-41.

2- कायाकाशयोः सम्बन्धः संयमाल्लघुतुल्यमापत्तेरवाकाशगमनम् । 3-42.

3- बहिरकल्पिता वृत्तिर्महा विदेहा, ततः प्रकाशावरणाध्यः

की धारणा करना बहिष्कृति है<sup>1</sup>। यह कल्पिता और अकल्पिता दो प्रकार की होती है। जब शरीर को छोड़ कर मन किसी बाह्य वस्तु पर वृत्तिलाभ करता है तो वह अकल्पिता बहिष्कृति महा विदेहा कही जाती है। इस महा विदेहावृत्ति से बुद्धितत्त्व पर रजस और तमस के कारण जो ज्ञानार्थकार पड़ जाता है वह समूल नष्ट हो जाता है। आरण्य के अनुसार सबसे बड़े ज्ञानावरण शरीर का अभिमान ही है<sup>2</sup>।

पञ्चभूतों की विविध अवस्थाओं पर संयम करने से भूतजगत् नामक सिद्धि की योगी को प्राप्ति होती है। भूतों के क्रमः सूक्ष्म, सूक्ष्म, सूक्ष्म, सूक्ष्म और अक्षय्य ये पांच स्वभेद हैं।

किसी आकार से युक्त तथा अपने प्रियोध शब्दस्पर्शादि गुणों से युक्त भीतिकल्प में पाया जाने वाला भूत का सूक्ष्मत्व कहलाता है<sup>3</sup>। इसी सूक्ष्म रूप में सामान्यजनों को भीतिक द्रव्यों का साक्षात्कार होता है, जैसे घट पटादि।

इन पंचभूतों के सूक्ष्म रूप को तन्मात्र कहते हैं। तन्मात्र का एक अवयव परमाणु है। सांख्ययोग में परमाणु को जैसे तो साव्यव मना जाता है परन्तु आचार्य के अनुसार परमाणु स्वयं ही इतना सूक्ष्म होता है कि उससे भी अवयवों का ज्ञान सहज संभव नहीं है<sup>4</sup>। यह परमाणु सामान्य

1- शरीराद्बहिष्कृति भावना मनो बहिष्कृतिः । भा. पृ. 362-

2- ततः प्रकाशावरणक्षयः शरीराभिमाननोदभास कौप्रकर्मविपाका इत्येतत्तद्व्ययः बुद्धितत्त्व्यावरणमलं क्षीयते । भा. पृ. 363.

3- पाक्षिः शब्दस्पर्शादयाः, आभ्याः शब्दस्पर्शादयः इत्यायाः ओषधिर्युक्त्य-  
सम्यन्नानि भीतिक्रव्याभीत्यर्थः आकारकाठिन्यतरत्यादिव्युक्तताः  
सूक्ष्मत्वाद्देन परिभाषिताः । भा. पृ. 363.

और विशेष से युक्त होता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार मूर्ति आदि सामान्य और शब्दादि विशेष है<sup>1</sup>। परन्तु आचार्य आरण्य की भास्वती के अनुसार सामान्य से तात्पर्य शब्दादि से है एवं विशेष का अर्थ बह-जरिध्व आदि से है<sup>2</sup>।

भूतों का चतुर्थ स्व त्रिगुण है। तत्त्व, रजस और तमस ये तीन गुण ही "जन्य" से अभिप्रेत हैं। भूतों का अंतिक स्वभेद अर्थवत्ता है। गुणों के सर्वस्वापी होने के कारण संपूर्ण जगत्प्रपंच भोग और अपवर्ग स्व "अर्थवत्त्व" से युक्त है।

पांच रसों वाले इन भूतों में संयम करने से योगी जो भूतज्य होती है। इन पंचमहाभूतों और पंचतन्मन्त्राओं पर विजय प्राप्त कर लेने से ये सब अर्थात् महाभूत एवं तन्मन्त्राएं शब्दों का अनुकरण करने वाली गीओं के समान योगी की इच्छानुसार कार्य करने लगती है<sup>3</sup>।

यहां पर यह उल्लेखनीय है कि योगी सिद्धि प्राप्त के परस्परत्व तत्त्वसंकल्पयुक्त हो जाने पर भी सृष्टि के नियमों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है। भास्वती में आचार्य आरण्य इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार शक्ति सामर्थ्ययुक्त भी राजा दूसरे के राज्य में हस्तक्षेप नहीं करता है उसी प्रकार सिद्ध योगी भी आदिकाल से चल आये

1- सामान्यं मूर्तिः शब्दादयो विशेषः तदात्मा । तपेऽ ५० पृ. 368.

2- सामान्यं शब्दादिमन्त्रेषु विशेषः बहजादयः । भा. पृ. 368.

3- तत्र पञ्चभूतस्वभावाणि जित्वा भूतज्यो भवति, तज्ज्यात् वत्ताज्ज्ञा रिण्य गावोऽस्य संकल्पानुविधा यिन्यो भूतज्ज्ञयो भवन्ति ।

चले आये वृद्धिक्रम में विपर्यय नहीं करता है<sup>1</sup>।

योगी को "कयसम्पत्" नामक सिद्धि प्राप्त होने से वह वृज के सद्गुण अंगों से युक्त हो जाता है<sup>2</sup>। इन्द्रियों के ग्रहण, स्वल्प, अस्मिता, अन्वय एवं अंतवत्त्व इन पांच स्थों पर संयम करने से इन्द्रियज्य नामक सिद्धि प्राप्त होती है<sup>3</sup>। इस सिद्धि के द्वारा योगी को इन्द्रिय और इन्द्रिय कारणों पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। संकल्पमात्र से ही योगी अभीष्ट इन्द्रियों को उत्पन्न करने में सक्षम हो जाता है<sup>4</sup>। इन्द्रियज्य के परिणामस्वरूप मूर्धुतीका नामक सिद्धियां प्राप्त होती हैं<sup>5</sup>।

भारतवर्ती के अनुसार मन के तीव्र गति के समान ही जब शरीर की भी तीव्र गति होती है तो इसे मनोजवित्त कहते हैं<sup>6</sup>। विज्जणभाज नामक सिद्धि के द्वारा योगी को इन्द्रियां शरीर से निरपेक्ष होकर दूर देश के एतं भू-भविष्यकाल के अत्यन्त सूक्ष्म विषयों का भी ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं<sup>7</sup>।

बुद्धि और पुरुष की विवेकधाति से युक्त चित्तवत्ते योगी को

1- ततो अस्मिन्सिद्धिप्राप्तौ भवति कयसम्पत्कयसंज्ञा इति । 3-45.

2- यथाशक्तौ अपि कश्चित् राजा परराष्ट्रे न किंचित् करोति तत्तु नदीति । भा. पृ. 374.

3- कयसंज्ञानन्तर्वं कयस्य दृक्संहतिः कयस्य सम्पत्तौ गत्वमित्यर्थः । भा. पृ. 371.

4- ग्रहणस्वरूप्यास्मिता न्ययार्थवत्त्वसंयमा इन्द्रियज्यः । यो. सू. 3-47.

5- इन्द्रियज्यः बाह्यान्तरोन्द्रियाणां अभीष्टकारणपरिणाममाप्त्यर्थम् । भा. पृ. 371.

6- ततो मनोजवित्तं विकरणभावः प्रधानक्यन्च । यो. सू. 3-48.

7- मनोजवित्तो गतिवित्तो मनोजवित्तवत् । भा. पृ. 374.

8- विदेहानां शरीरनिरपेक्षाणां इन्द्रियाणां अभीष्टदेशे काले विषये च वृत्तिलाभे ज्ञानयेत्तावत्करणतामर्थं विकरणभावः । भा. पृ. 374.

सभी पदार्थों पर स्वाभित्व एवं सर्वज्ञत्व की सिद्धि प्राप्त होती है<sup>1</sup>। सर्वज्ञत्व प्राप्ति से किसी भी कर्तु के भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सभी धर्मों का युग्मत ज्ञान हो जाता है ।

परन्तु योगी को इस चिन्ता का नामक सिद्धि से भी वैराग्य हो जाता है क्योंकि उसे यह ज्ञान हो जाता है कि यह विवेकज सिद्धि भी स्वप्नगुण का ही परिणाम है एवं यह योग के अंतिम लक्ष्य— केवल्य प्राप्ति की दृष्टि से हेय ही है । परिणामस्वरूप उस घिरकत योगी के क्लेश-कर्मादि के बीज दग्ध होकर फल देने में असमर्थ हो जाते हैं और चित्त में प्रलीन हो जाते हैं । उनके प्रकृत्य से पुंस्व पर त्रिभिध तापों का अभ्यास नहीं होता है<sup>2</sup>।

इस स्थिति में कर्मक्षेत्रादिका रूप से चित्त में प्रतिभासित होने वाले तथा फलाभि यक्ति में असमर्थ सत्त्वादिगुण प्रकृति में लीन हो जाते हैं । कल्पवृक्ष पुंस्व का प्रकृति के गुणों से पूर्ण चिन्म हो जाता है ।

यही केवल्य की अवस्था है एवं योगी का अंतिम लक्ष्य भी यही है । इस केवल्य की अवस्था में पुंस्व स्वरूप अर्थात् अपने बुद्ध चेतन्यस्व में प्रतिष्ठित रहता है । भास्वतीकार के अनुसार योगभाष्य में आया हुआ एक ४ धिति-शक्तिरेव पुंस्वः ४ शब्द शाश्वत ४ सर्वकालिक ४ स्वस्व प्रतिष्ठा का सूचक है<sup>3</sup> ।

1- सात्त्विकान्यत्वारव्यातिगन्तस्य सर्वभावाधिकृतत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च । यो. सू. 3

2- तापात्मक चित्तवृत्तेषां गृहीतुं हि तस्याः प्रतिषेधो न भवतीत्यर्थः  
भा. पू. 378.

3- एवमक्षेपेन शाश्वती स्वस्वप्रतिष्ठां धोतयति । भा. पू. 388.

क्षण एवं क्षण के क्रम में संयम करने से भी योगी को विवेकज्ञान प्राप्त होता है<sup>1</sup>। आचार्य क्षण को सरल शब्दों में रूपक करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार स्फाटि द्रव्यों का सुक्ष्मतम रूप परमाणु है, उसी प्रकार काल का परमाणु क्षण है<sup>2</sup>।

क्षणों के निरन्तर प्रवाह को ही क्रम कहा जाता है। सभी वर्तमान पदार्थ उसी वर्तमान क्षण पर आरुढ़ रहते हैं। अर्थात् वर्तमान एक क्षण ही वास्तव अथवा वस्तु का अधिकरण है। अतः इस क्षण और उसके निरन्तर प्रवाहित होने वाले क्रम में संयम करने से क्षण स्वरूप क्रम का साक्षात्कार होता है। इस साक्षात्कार के फलस्वरूप विवेक ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

लौकिक व्यवहार में सामान्यतः जाति, लक्षण तथा देश के भेदज्ञान से पदार्थों का भेदज्ञान होता है। परन्तु जब इस विधि से अस्तिभेद भेदज्ञान न हो सकता तो तब योगी विवेकज्ञान की सिद्धि का उपयोग करता है।

सब प्रकार के गोचर ज्ञानों में क्षणावधिन्न परिणाम का ज्ञान ही सुक्ष्मतरु ज्ञान है। इस ज्ञान से अधिक सूक्ष्म ज्ञान और कोई नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि मूल प्रधान में कोई स्वयंतादि भेद नहीं है, अतः उसमें भेदादि ज्ञान का प्रश्न ही नहीं उपरिष्ठ होता है<sup>3</sup>।

यह विवेकज्ञान योगी की स्व-प्रतिभा का प्रसाद है। भास्वती के

1- क्षणैकक्रमोः संयम विवेकज्ञानम् । यो. सू. 3-52

2- यथा आर्क्यपर्यन्त द्रव्यं सूक्ष्मतमं स्फाटिद्रव्यं परमाणुत्तया कालस्य परमाणुः क्षणः । भा. सू. 38 L

3- यत्तो जात्वादिभेदो लोकसिद्धिमन्व्यतोऽत उक्तं क्षणैदास्तु योऽस्तिद्विमया सौत विकारेऽप्ये भेदो न तु सर्वभूत प्रधाने क्वाचार्यो वाऽर्क्यो वक्ति मति व्यावधिबति भेदानाम भावान्नास्ति क्तुनां म्नापर कयां प्रधान इत्यर्थः पृथक्त्वम् । भा. सू. 38 Z

अनुसार एक ही समय में सब कुछ ग्रहण करने में समर्थ होता है<sup>1</sup>। प्रकृति-पुरुष विवेकज्ञान ही ज्ञान की चरम-सीमा है। इससे परे कोई और ज्ञान योगी को साध्य नहीं है<sup>2</sup>।

केवल्य का वर्णन करते हुए सूत्रकार परतञ्जलि कहते हैं कि बुद्धितत्त्व और पुरुष की शुद्धि के संगम हो जाने पर केवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है<sup>3</sup>।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि केवल्य की प्राप्ति विवेकज्ञानरूपी सिद्धि को प्राप्त कर लेने वाले योगियों के अतिरिक्त विवेकज्ञानरूपी सिद्धि न भी प्राप्त किये हुये योगियों को भी विवेकप्राप्ति से ही हो जाती है।

केवल्य को स्पष्ट करते हुए भास्वतीकार कहते हैं — बुद्धितत्त्व के शुद्ध होने पर बुद्धि के तत्त्व का—बुद्धि—तमस—रजस—का अभाव एवं पुरुष के अचरित भोग का अभाव होने पर स्वल्पप्रतिष्ठ होना ही केवल्य है<sup>4</sup>।

केवल्य के आत्मसाक्षात्कार के अतिरिक्त योगियों को प्राप्त होने वाली सभी सिद्धियाँ लौकिक चमत्कार एवं भास्वदर्शन काही प्रकटीकरण करती हैं। अतः वे समाहितचित्त योगी के लिए ही सिद्धिस्या है<sup>5</sup>।

1- एकक्षणोपास्यं युगस्य सर्वं सर्वं शृणोति तस्मिन् वर्तमानं नास्त्वेव किञ्चिदतिशयागतं न्येति । भा. पृ. 388.

2- विवेकज्ञानं परिपूर्णं नातः परं ज्ञानोत्कर्षः साध्य इत्यर्थः भा. पृ. 388.

3- तत्त्वसुखयोः शुद्धिस्तम्बे केवल्यमिति — 3-55 ।

4- बुद्धितत्त्वस्य शुद्धी पुरुषस्य च तथा पुरुषस्योपचरितभोगाभावस्य शुद्धौ स्वप्ताम्ये च केवल्यमिति सूत्रार्थः । भा. पृ. 382.

5- स्वानुपनिश्रुतौ संग्रहयथाकरणं पुनरनिश्रुतसंग्रहः । 3-51.

ये सिद्धियाँ क्लृप्तः पुस्तक के साक्षात्कार की धिरो धिनी हैं<sup>1</sup>। अतः केवल्य विपासुओं को इन सिद्धियों की अभिलाषा बढापि नहीं करनी चाहिए ।

डा. राधाकृष्णन के अनुसार ये सिद्धियाँ वे फूल हैं जो हों मार्ग में मिल जाते हैं, यद्यपि सत्य का अन्वेषक इन्हें चुनने के लिए नहीं निकला था । इन पूर्णताओं की ओक्षा करने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है<sup>1</sup>। इसी प्रकार के विचार "फण्डामेन्टल आफ योग" नामक पुस्तक में राममूर्ति स्स मित्रा ने भी व्यक्त किये हैं ।

यदि यहाँ पर यह शंका हो कि ये अलौकिक सिद्धियाँ सर्वथा अपेक्षणीय हैं तो इनका सम्बन्ध योगसूत्रों और योग-भाष्य में क्यों किया गया? इसका समाधान यह है कि योगियों को प्राप्त होनेवाली अलौकिक शक्तियों का ज्ञान होना आवश्यक है जिसे कि वे ऊँचतर सिद्धियों की दिशा में अग्रसर हो सकें ।

शक्ति का ज्ञान होना जहाँ भौतिक प्राणियों को उसके दुरुपयोग के लिए प्रेरित करता है वहाँ पर योगियों के लिए अधिकांशतः आत्मविश्वास, सद्बुपयोग स्व अपेक्षा की भावना ही उत्पन्न करता है ।

इन सिद्धियों के साक्षात्कार से योगी में आत्मविश्वास जाग्रत होता है ।

इस आत्मविश्वास के कारण यह दिगुपित निष्ठा के साथ योगसाधना में तत्पर होता है । ऐसे भी यद्यपि सिद्धियाँ सम धिश्य लक्ष्य से निम्नस्तर की भले ही हों, परन्तु उच्चतम शक्ति को प्राप्त न होने पर भी निम्नस्तर की स्थितियों का अपना महत्त्व उद्घाटन एवं अमान्य नहीं किया जा सकता है । इसी कारण विभूतिपाद में सम्मिलित सिद्धियों का विस्तृत विवरण सर्वथा तर्कसंगत है ।

1- द्रष्टव्य—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी—डा. राधाकृष्णन, पृ. 362.



सप्तम अध्याय

योगदर्शन में भास्वती का मूल्यांकन

...

## सप्तम अध्याय

### भारवती का मूल्यांकन

रत्नाकरः प्रवादानां भाष्यं प्यातविनिर्मितं ।

शिक्ष्याणां सुखबोधार्थं टीक्यं तत्र भारवती॥

आचार्य हरिहरानन्द आरण्य की यौगिक अन्तर्दृष्टि से अनुष्ठाणित होने के कारण अर्वाचीन संस्कृत टीकाओं में भारवती अपना वैशिष्ट्य रखती है । यह टीका विश्वव्यापी एवं अत्यन्त उदादेय है । सम्स्त टीका में सांख्य योग को यत्र तत्र स्पष्ट किया गया है । इसके आरम्भ में सांख्य और योग के ऐक्य को प्रतिपादन के लिए गीता की उक्ति प्रयुक्त की गयी है — सांख्ययोगौ पृथग्बालः प्रच्छीन्ते न पण्डिताः । आचार्य के अनुसार सांख्य और योग में अत्यल्प अन्तर यह है कि सांख्य में तत्त्व तत्त्वधात्कार के लिए निश्चिन्ता और अभ्यास वैराग्य का आलम्बन लेना पड़ता है जबकि योग में तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानम्, क्रिया-रूप एवं क्रमेण अदांग योगादि का अनुष्ठान आत्मसाक्षात्कार के लिए करना पड़ता है । कहीं-कहीं "अथ" एवं "ननु" आदि द्वारा शंका उठाकर उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है पर यह स्वप्न को प्रमाणित करने के ही लिए । परमत्त लक्षण का प्रायेण भाव होने के कारण भारवती में जसाधारण की दृष्टि में अत्यधिक उदा स्थान प्राप्त कर लिया ।

भारवती में आचार्य ने अनावश्यक विस्तार के लोभ का संवरण किया है उनकी व्याख्या झुरी नहीं है परन्तु पूर्ण होते हुए भी संक्षिप्त है । पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए अनावश्यक विस्तार कहीं पर भी दृष्टिगत नहीं होता है । अने क्वचन को प्रमाणित करने के लिए यत्र-तत्र श्रुतियों एवं स्मृतियों से उद्धरण दिये गये हैं । यथा-श्रुते "यद् यद् विद्या ब्रह्मोप-निष्ठा च तद्दुर्वीर्यवत्तरं भवति" इति संख्या 18 । तरल भाषा एवं

छोट और स्पष्ट अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग किया गया है किन्तु जो प्रतिपादित करने की शैली सुगम है ।

सांख्य के सत्य, रजस एवं तमस इन त्रिगुणों के ही आधार पर भारत में वैदिक शास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास हुआ है । अतः धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त बह्य विषयों में भी सांख्ययोग पर लिखी गई टीकाओं का योगदान अस्वीकार नहीं किया जा सकता है ।

वाक्यपति मिश्र की तत्त्वशास्त्री एवं विज्ञानशिक्षु कृत योग-वार्तिक आदि के पञ्चाश अर्थात् सोलहवीं शताब्दी के पञ्चाश नागेश भट्ट एवं महादेव पदान्तीवृत्ति ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ का प्रणयन सांख्ययोग में नहीं हुआ था । ऐसी स्थिति में आधुनिक काल में सांख्ययोग को लोकप्रिय बनाने के लिए एवं ज्ञान-पिपासुओं की ज्ञानपिपासा का उपशमन करने के लिए आचार्य ने अपनी लेखनी उठायी । तत्त्वशास्त्री भोजवृत्ति एवं योगवार्तिक यद्यपि सभी टीकाएँ विद्वत्समय में आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं फिर भी वे दोष से पूर्णतः रहित नहीं हैं, कुछ न कुछ कमियाँ उनमें रह ही गयीं हैं। उनकी व्याख्याओं में अपने तर्कों एवं पाण्डित्य के द्वारा विषय को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति अधिक दृष्टिगत होती है । वाक्यपति मिश्र के अनन्तर भोजराज ने अपनी वृत्ति की रचना की । भोजवृत्ति में अयुक्त दोषों का परिमार्जन तो हो गया परन्तु यह वृत्ति केषल सूत्रों पर ही होने के कारण विषय का पूर्ण-स्पष्टीकरण नहीं हो सका । तत्पश्चात् सोलहवीं शताब्दी में विज्ञानशिक्षु का योगवार्तिक प्रकाश में आया । विज्ञानशिक्षु के पास योग का स्वानुभव अभाव था, परन्तु रक्षाशैली की दृष्टता एवं लज्जामय यत्न-तन्त्र होने के कारण साधारण विद्यार्थी के लिए योग का विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करना अटिल एवं कठिन हो गया था । ऐसी स्थिति में आधुनिक काल में

आचार्य ने भास्वती की रचना करके सर्व प्यासभाष्य को सरल बनाया तथा ज्ञानपिपासुओं की ज्ञानपिपासा का शमन किया। समय की प्रबल मांग से ही भास्वती का निर्माण हो सका। जैसे तो ब्रिटिश शासकों की प्रभुता के कारण अंग्रेज विद्वान भारतीय दर्शन पर उत्पन्न अध्ययन करके पाठकों के समुच्च भ्रान्त स्वरूप फूट कर रहे थे। योग की विभूतियों को जाह्न आदि सम्झकर उसका उपहास किया जाता था। भारतीय दार्शनिक मान्यताओं के विमर्श की महान आशांका थी, ऐसी दशा में भास्वती में योग का स्पष्ट रूप प्रकाश में आया। वर्तमान काल में योग भारत में ही नहीं अपितु पाश्चात्य देशों में भी अत्यन्त लोकप्रिय हो रहा है। लोकप्रियता की चरम सीमा पर आरुढ़ योगदर्शन का अत्यन्त सरल भाषा में सम्यक् दिग्दर्शन कराने का श्रेय आचार्य हरिहरानन्द आरण्यकृत भास्वती को दिया जा सकता है।

योगदर्शन मानव के व्यवहारिक जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। योग साधना सर्व योग के ज्ञान से व्यावहारिक जीवन में मुख्य सभी क्षेत्रों में सफलता प्राप्त कर सकता है। कपिल प्रणीतव्यास के द्वारा विकृत योग जन्साधारण के लिए उपयोगी बनाना एक गुरुतर कार्य था, साथ ही साथ योग केवल कुछ गिने चुने विद्वानों और पण्डितों की चर्चा का विषय बन कर रह गया था। अतः इस गंभीर और कठिन कार्य को आचार्यकृत भास्वती ने सफलतापूर्वक पूर्ण कर दिया। तर्कों के लण्डन-मण्डन के कारण दर्शन की ओर से विद्वानों-विद्वानों होने लगे थे। इसी लिए भास्वती के प्रारम्भ में "शिष्याणां सुखबोधार्थं" कहकर योगदर्शन को विद्वानों तक पहुँचाने का अमर सन्देश दिया गया है।

अन्त में भास्वती के विषय में सदैम में केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि भास्वती भारतीय दर्शन की एक अति देदीप्यमान शिक्षा है जो सांख्ययोग पथ की पथिकों के लिए प्रकाशपुञ्ज के समान प्रकाशित होती रहती है ।

सुप्रसन्नपदां टीकां भास्वतीं श्रद्धयाऽऽप्लुतः ।

हरिहरस्यत्किञ्चै तांख्यस्यनस्य हि ॥

...

## सहायक ग्रन्थों की नामावली

§ ग्रन्थ-ग्रन्थकार-प्रकाशक-प्रकाशन-स्थल- एवं काल§

...

- 1— गीता § श्रीगुरुभगवद्गीता§ तं कृष्णपंत शास्त्री—ऋषुत ग्रंथमाला, वाराणसी, संवत् 2023.
- 2— तत्त्ववैशाखी § सांख्ययोगदर्शनम्§ तं दामोदर शास्त्री— चौखम्भा प्रकाशनालय, वाराणसी, 1935
- 3— आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान— डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 1967.
- 4— इंदियन फ़िलासफी— डा. राधाकृष्णन— लन्दन, 1922
- 5— अमरकोष— व्या. हरगोविन्द शास्त्री— चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1935
- 6— अर्थशास्त्र— तं सातवेलकर— स्वध्याय मण्डल, पारडी, बलसाङ्ग ।
- 7— उपनिषद् भाष्यम् — गीता प्रेस, गोरखपुर ।
- 8— दि कम्प्लीट इन्स्ट्रुटेड बुक आफ योग— विष्णुदेवानन्द, लन्दन, 1956
- 9— न्यायशास्त्र— न्यायसूत्रदर्शनाचार्य — गुजराती प्रेस, बम्बई, 1917.
- 10— तत्त्वव्यायार्थदीपनम्— भावागणेश- चौखम्भा संस्कृत तिरौजू, वाराणसी, 1920.
- 11— तैत्तिरीय आरण्यक— आनन्दाश्रम कुशालय, पूना, 1956
- 12— कठोपनिषद् ।
- 13— मनुस्मृति पुराण— तं रामशंकर भट्टाचार्य— चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1964.
- 14— पार्तञ्जरहस्यम्— राघवानन्द, चौखम्भा संस्कृत तिरौजू, वाराणसी, 1935
- 15— राजयोग— स्वामी विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1976.
- 16— तत्त्वदर्शन संग्रह, माधवाचार्य, पूना, 1906

## सहायक ग्रन्थों की नामावली

§ ग्रन्थ-ग्रन्थकार-प्रकाशक-प्रकाशन-स्थल- एवं काल§

...

- 1— गीता § श्रीमद्भगवद्गीता § सं. कृष्णपंत शास्त्री—ऋयुत ग्रंथमाला, वाराणसी, संवत् 2023.
- 2— तत्त्ववैशाखी § सांख्ययोगदर्शनः § सं. दामोदर शास्त्री— चौखम्भा प्रकाशनालय, वाराणसी, 1935.
- 3— आचार्य विज्ञानशिक्षा और भारतीय दर्शन में उनका स्थान— डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 1967.
- 4— इंडियन फिलॉसफी— डा. राधाकृष्णन— लन्दन, 1922.
- 5— अमरकोश— व्या. हरगोविन्द शास्त्री— चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1935.
- 6— अर्थवैद— सं. सात्वतलाल— स्वध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड़.
- 7— उपनिषद् भाष्य— गीता प्रेस, गोरखपुर.
- 8— दि कम्प्लीट इन्स्ट्रुटेड बुक ऑफ योग— विष्णुदेवानन्द, लन्दन, 1956.
- 9— न्यायशास्त्र— न्यायसूत्रदर्शनाचार्य— गुजराती प्रेस, बम्बई, 1917.
- 10— तत्त्वव्याख्यानार्थदीपन— भावागणेश— चौखम्भा संस्कृत तिरीज, वाराणसी, 1920.
- 11— तैत्तिरीय आरण्यक— जानन्दाश्रम अण्डालय, पूना, 1956.
- 12— कठोपनिषद्.
- 13— गङ्गा पुराण— सं. रामचंद्र भट्टाचार्य— चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1964.
- 14— पातञ्जलरहस्य— राघवानन्द, चौखम्भा संस्कृत तिरीज, वाराणसी, 1935.
- 15— राजयोग— स्वामी विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1976.
- 16— तत्त्वदर्शन संग्रह, माधवाचार्य, पूना, 1906.

### स्थायक ग्रन्थों की नामावली

§ ग्रन्थ-ग्रन्थकार-प्रकाशक-प्रकाशन-स्थल- एवं काल§

...

- 1— गीता § श्रीगुरुभगवद्गीता § सं. कृष्णपंत शास्त्री—ऋयुत ग्रंथमाला, वाराणसी, संवत् 2023.
- 2— तत्त्ववैशाखी § सांख्ययोगदर्शनः § सं. दामोदर शास्त्री— चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1955
- 3— आचार्य विज्ञानशिक्षा और भारतीय दर्शन में उनका स्थान— डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 1967.
- 4— इंडियन फ़िलासफी— डा. राधाकृष्णन— लन्दन, 1927
- 5— अमरकोष— प्या. हरगोविन्द शास्त्री— चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1957.
- 6— अर्थवैद— सं. सातबैलकर— स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड़ ।
- 7— उपनिषद् भाष्यः — गीता प्रेस, गोरखपुर ।
- 8— दि कम्प्लीट इन्स्ट्रुटेड बुक ऑफ योग— विष्णुदेवानन्द, लन्दन, 1956.
- 9— न्यायभाष्य— न्यायसूत्रदर्शनाचार्य — गुजराती प्रेस, बम्बई, 1917.
- 10— तत्त्वव्यायार्थदीपनः— भावागणेश— चौखम्बा संस्कृत लिटिरेचर, वाराणसी, 1920.
- 11— तैत्तिरीय आरण्यक— आनन्दाश्रम अण्डालय, पूना, 1956
- 12— कठोपनिषद् ।
- 13— मनुस्मृति पुराण— सं. रामर्षकर भट्टाचार्य— चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1964.
- 14— पार्तवजलहस्यसु— रामदेवानन्द, चौखम्बा संस्कृत लिटिरेचर, वाराणसी, 1955
- 15— राजयोग— स्वामी विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1976.
- 16— तत्त्वदर्शन संग्रह, माधवाचार्य पूना, 1906



- 17- सांख्य प्रवचन भाष्य—सं. रामशांकर भट्टाचार्य— भारतीय विद्या प्रकाशन, सं. 2022.
- 18- सांख्यदर्शन का इतिहास— अदयवीर शास्त्री, ज्वालापुर, 1950.
- 19- पंचदशी— विचारण्य—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1949.
- 20- बंधदर्शन पत्रिका ४ नवम्बर 1312 ज्येष्ठ सं. ४
- 21- सांख्यतत्त्वकाण्डोद्गीर्णम्— डा. जाधापुराद मिश्र— प्रेम प्रकाशन, इलाहाबाद, 1969.
- 22- योगसिद्धि और उसके सिद्धान्त— बी. एल. अश्वि, वाराणसी, 1957.
- 23- पातञ्जलसूत्र रा. भा. पु. सहित— भोजराज, बनारस, 1913.
- 24- भास्वती ४ सांख्ययोगदर्शनम् सं. दामोदर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, 1935.
- 25- मूर्ध्नि— सं. गोपाल शास्त्री नेने — चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1970.
- 26- योगसा सिद्धि — बम्बई, 1915.
- 27- योगकारिका— सं० दामोदर शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1935.
- 28- योगसूत्रभाष्यसिद्धि— डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव— संवित प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971.
- 29- हिंदी आफ इंडियन फिलॉसफी— डा. एम. एन. दासगुप्ता— कैम्ब्रिज, 1940.
- 30- सांख्यकारिका— दृष्टिराज शास्त्री— चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1953.
- 31- भारतीय दर्शन—बल्लेठ उपाध्याय, वाराणसी, 1957.
- 32- भारतीय दर्शन— उषा मिश्र, लखनऊ, 1957.

संकेतों का विवरण

|             |   |   |                    |
|-------------|---|---|--------------------|
| पृ.         | — | — | पृ.८               |
| सू. सं.     | — | — | सू. संख्या         |
| त. घ.       | — | — | तत्त्व केन्द्राखी  |
| भा.         | — | — | भारतवती            |
| यो. भा.     | — | — | योगभाष्य           |
| यो. सू.     | — | — | योगसू.             |
| सां. त. कौ. | — | — | सांख्यतत्त्वकौमुदी |
| पा. सू. सू. | — | — | पार्तबलिहृतवृत्ति  |
| यो. वा.     | — | — | योगवातिकस्य        |
| पा. र.      | — | — | पार्तबलि रहस्य     |
| यो. का.     | — | — | योगकारिका          |
| मणि.        | — | — | मणिग्रभाटीका       |
| श्रीमद् भा. | — | — | श्रीमद्भागवत       |
| हरि. आ.     | — | — | हरिहरानन्द आरण्य   |
| वा. मि.     | — | — | वाचस्पति मित्र     |
| राघ. त.     | — | — | राघवानन्द तरुवती   |
| श्री. घृ.   | — | — | श्रीवृत्ति         |
| भा. का.     | — | — | भारतवतीकार         |
| श्री. गी.   | — | — | भगवद्गीता          |
| वि. शि.     | — | — | विज्ञानशिक्षु      |